सिद्धयोग

संस्थापक संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

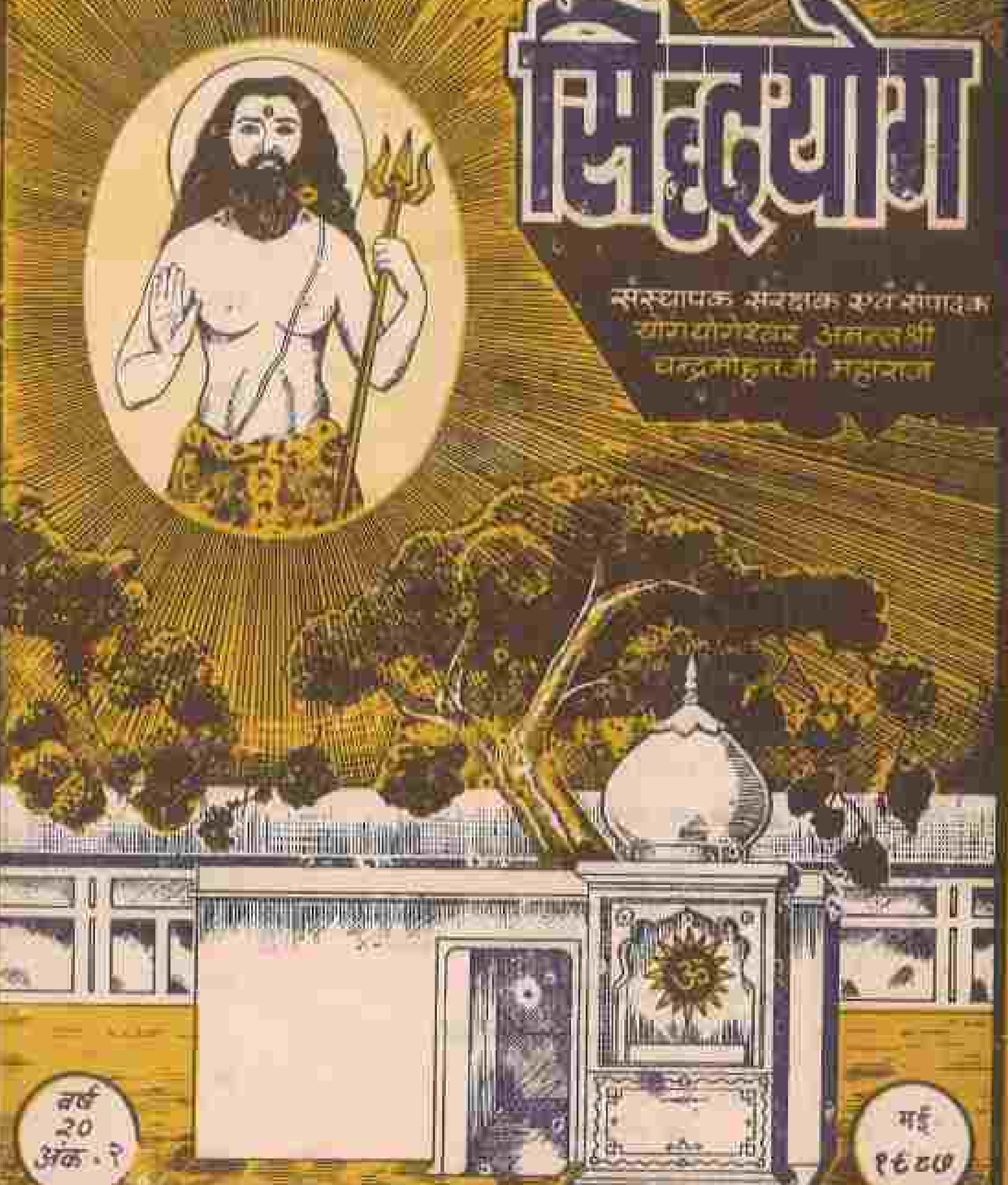

वर्ष २०
अंक - २

मई
१६८७

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सँवाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सनाई

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

मई
१९८७

* विहाय देवं भुवनेशमोऽयम् (प्रार्थना)
* भवबन्धन किसको ? (विशेष लेख) २
  योगि-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
* योग एवं विकासवाद ९
  ब्रह्मचारी श्री रामलाल
* अनर्थकारी अर्थ १४
  श्री परिपूर्णानन्दजी
* कल्याण मार्ग १८
  श्री विष्णुप्रसाद 'व्यास'
* वर्ण और गुणकर्म २३
  श्री मोहनलाल शर्मा
* चित्त और चित्त की वृत्ति २५
  श्री धर्मेन्द्रकुमार गौतम
* पत्र-पुष्प-फल-तोयम् २८
* मन को कैसे संतुलित करें ३०
  स्वामी श्री विवेकानन्द
* सुख तथा शक्ति की खोज ३२
  श्री विश्वबन्धुजी सत्यार्थी
* एक नई दृष्टि—जीवन तत्व साधन के लाभ ३३
  श्रीमती डा० राजकुमारी मिश्रा
* मृत्यु का नाशक योग ३७
  श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय
* योग एवं गुरुदेव ४०
  श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री
* शैव योग-दर्शन ४५
  श्री डा० विजयसिंह

वार्षिक मूल्य ३० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया।

अवश्य आइये ! ॐ अवश्य देखिये !

योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का

वार्षिक योग महोत्सव

सभी गुरु भाई-बहिन को यह जानकर हर्ष होगा कि सुप्रसिद्ध योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक 'योग महोत्सव' ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी, दशमी तदनुसार तारीख ५, ६ व ७ जून ८७ ई० दिन शुक्रवार, शनिवार व रविवार को मनाया जायगा ।

सदा की भाँति उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक और उपयोगी बनाने का आयोजन किया गया है । उत्सव में योग-सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के प्रवचन उपदेश, भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय संगीत आदि का कार्यक्रम रहेगा । आश्रम के ब्रह्मचारी यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी करेंगे । सभी योग-प्रेमियों को इस समारोह में सम्मलित होकर लाभ उठाना चाहिए ।

सभी गुरु भाई-बहिनों को श्री गुरुदेवजी की ओर से इस उत्सव के निमंत्रण पत्र भी भेजे जा रहे हैं । किन्तु कभी-कभी डाक की गड़बड़ी के कारण समय पर पहुँच नहीं पाते हैं अतः सभी भाई-बहिन इस सूचना को ही अपना आमंत्रण समझते हुए उत्सव में सम्मिलित हों ।

नोट—७जून रविवार गंगा दशहरा को नगर शोभा-यात्रा (जलूस) का आयोजन है जिसमें बैण्ड बाजे के साथ विविध झाँकियों का आयोजन रहेगा । शोभा-यात्रा सायं ६बजे योग-साधन आश्रम से प्रारम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के ११बजे आश्रम वापस पहुँचेगी । अतः सभी सत्संग प्रेमियों को उत्साह के साथ इस शोभा-यात्रा एवं समारोह में सम्मिलित होना चाहिए । आगन्तुकों को मौसम के अनुकूल अपने बिस्तर आदि अवश्य साथ लाने चाहिए ।

मन्त्री—योग-साधन आश्रम
रेलवे रोड ऋषिकेश (उ०प्र०)

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा ।

वर्ष २०
अङ्क २

मई
१९८७

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥

❀ विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ❀

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्,
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्,
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/७

अर्थात्

उस ईश्वरों के भी परम महेश्वर, सम्पूर्ण देवताओं के भी परम देवता, पतियों के भी परम पति तथा समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी तथा स्तुति करने योग्य उस प्रकाश-स्वरूप परमात्मा को हम जानते हैं । अर्थात् हम यह भी जानते हैं कि उनसे परे तथा उनसे श्रेष्ठ और कोई नहीं है । वे ही सबके कारण हैं और वे सर्वरूप होकर भी सबसे पृथक् हैं ।

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

भव प्रत्यय किसको ?

भव प्रत्यय क्या है और किसको इसकी उपलब्धि होती इसे विस्तार और सप्रमाण समझाने का सद्-प्रयास श्रीगुरुदेवजी ने अपने इस लेख में किया है। वे इस सम्बन्ध में स्वयं लिखते है:—'भव प्रत्यय शब्द का अर्थ है जन्म ही है कारण जिसका अर्थात् जिस योगी को किसी प्रकार की अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं हुई और न ही किसी योगी गुरु के शरण में जाने की आवश्यकता पड़ी। केवल मात्र जन्म लिया और स्वतः ही समाधि लगने लगी।'

—सं० स०

भव प्रत्यय किसको ?

योग दर्शन में भगवान पतञ्जलि देव सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार की समाधियों का वर्णन करते है। योग-दर्शन के प्रारम्भ में "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" यह सूत्र कह कर के चित्तवृत्तियों के नितराम् रोध अर्थात चित्तवृत्तियों के समूलोन्मूलन को ही निरोध पदवाच्य समाधि बतलाया है। किन्तु भगवान व्यासदेवजी महाराज अपने व्यास भाष्य में लिखते है:—

सर्व शब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणं प्रख्या-रूपं हि चित्तसत्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यविषय-प्रिय भवति तदेव तमसानुविद्धं अधर्माज्ञानावैराग्या-नैश्वर्योपगं भवति तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योत-मानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वं पुरुषान्यता-ख्यातिमात्रं धर्ममेघ ध्यानोपगं भवति तत्परं प्रसंख्यान-मित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रति-संक्रमादर्शितविषया शुद्धा चानन्ताच सत्वगुणात्मिका चेयम् अतो विपरीता विवेकख्यातिरित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि तदवस्थं संस्कारोपगं भवति स निर्विकल्पस्समाधिः न तत्र किञ्चित्सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः द्विविधःस योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

अर्थात् सूत्रके अन्दर सर्व शब्द का ग्रहण नहीं किया गया इसलिए सम्प्रज्ञात समाधि भी योग ही कही गई है क्योंकि हमारा चित्त प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक कहा गया है उसके भेद इस प्रकार से हैं। हमारा प्रख्या रूप चित्त सत्व जिसके साथ में रजोगुण तमोगुण भी लगे रहते है ऐसा चित्त संसार में ऐश्वर्य का चाहने वाला होता है और वही हमारा विशुद्ध चित्त यदि तमोगुण से घिरा रहता है तब वह अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर बढ़ा

रहता है और वही हमारा चित्तसत्व जिसका मोह रूपी आवरण नष्ट हो चुका है और सब प्रकार से चारो ओर से चमक उठा है अतः इतना होने पर भी रजोगुण की मात्रा साथ में शेष है अतः धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होने वाला होता है। ज्यों-ज्यों योगी का अभ्यास इससे आगे बढ़ता है तब अभी तक जो रजोमात्रा चित्त को घेरे हुई थी तब वह भी गतागत हो जाती है तब योगी स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाया करता है। और प्रकृति और पुरुष का बिल्कुल न्यारा-न्यारा बोध उसको होता है। ऐसी स्थिति में योगी धर्म मेघ समाधि वाला होता है। यह यो[illegible] रम-प्रसंख्यान माना गया है। किन्तु यह विवेक ज्ञान भी गुणों से सम्बन्ध रखने वाला ही है। चित्त शक्ति अर्थात्—जीवात्मा बिल्कुल अपरिणामी अर्थात्-जिसमें कभी कोई परिणाम पैदा नहीं होता और अप्रतिसंक्रमा जिस पर कभी किसी का प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु हमारी यह चित्त शक्ति जीवात्मा दर्शित विषया सी है ही। यद्यपि शुद्ध है और अनन्त है किन्तु बुद्धि बोधात्मा होने के कारण दर्शितविषया है। अतः जब चित्त पर वैराग्य को प्राप्त होता है, ऐसी अवस्था में इस विवेक ज्ञान वाली ख्याति को भी छोड़ देता है। उसी को निर्बीज समाधि कहते हैं अर्थात्—वहाँ पर कोई भी ज्ञान नहीं रहता इसलिए क्योंकि दर्शनकार पतञ्जलिजी महाराज ने सर्व शब्द का ग्रहण नहीं किया अतः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों स्थितियों को ही योग कहा गया है। जिस समय योगी अस्मितानुगत समाधि की पराकाष्ठा में पहुँचता है उस समय उसका केवल संस्कार मात्र शेष रहता है इस स्थिति को ही भगवान् पतञ्जलिदेवजी ने इस प्रकार बतलाया है—

"विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संसकाशेषोऽन्यः"

अर्थात्-विराम प्रत्यय ही जिसका अभ्यास का विषय बन जाता है ऐसी असम्प्रज्ञात समाधि में केवल संस्कार मात्र शेष रहता है इस पर पढ़िये व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ:—

सर्व वृत्ति प्रत्यस्तमये संसकार शेषो निरो धश्चितद समाधिरसम्प्रज्ञातः तस्य परं वैराग्यमुपायः सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाथ न कल्पत इतिविराम प्रत्ययोनिर्वस्तुक आलम्बनी क्रियते, स चार्थशून्यः तदभ्यास पूर्वं चित्तं निरालम्बनमभाव प्राप्तमिव भवतीत्येष समाधिरसम्प्रज्ञातः"

अर्थात् सब वृत्तियों के समाप्त जैसी हो जाने पर निरुद्ध चित्त की समाधि असम्प्रज्ञात कही गई है, उसके प्राप्त करने का उपाय एकमात्र पर-वैराग्य ही है। गुण-धर्म से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी सावलम्ब-अभ्यास इस समाधि को प्राप्त करने के लिए नहीं किया जाता। विराम प्रत्यय का अर्थ ही यह है कि इसका अभ्यास बिल्कुल निरालम्ब (निरावलम्ब) एवं अभाव प्राप्त जैसा होता है इसलिए इसको निर्बीज कहा गया है। यह समाधि असम्प्रज्ञात कही गयी है। इस प्रकार

से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग की दो समाधियाँ हुईं। अब विचारने वाली बात केवल मात्र एक रही और वह यह कि हमारे इस लेख का विषय है कि "भव प्रत्यय किसको ?" भव प्रत्यय शब्द का अर्थ है जन्म ही है, कारण जिसका अर्थात् जिस योगी को किसी प्रकार के अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं हुई और न ही किसी योगी गुरु की शरण में जाने की आवश्यकता पड़ी, केवल-मात्र जन्म लिया और स्वतः ही समाधि लगने लगी। यह एक इस प्रकार का विषय है कि हर किसी को ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अहर्निश भुगतान में आने वाले क्रम में क्लिष्टा-क्लिष्ट संस्कारों का उत्थान-पतन होता रहता है। इसलिये संस्कार संस्कार का जनक बनता रहता है। इसलिए जो संस्कार भुगतान में आ चुके हैं या इससे आगे भुगतान में आने वाले हैं, उनका एक-दूसरे के ऊपर प्रभाव बना रहता है। अतः पूर्व जन्म की स्मृति बहुत लम्बा भुगतान होने के कारण विस्मृति के रूप में बदल जाया करती है। यही एक प्रकार है कि किसी भी व्यक्ति को अपने पूर्व जन्म की बातें याद नहीं रहतीं। एक सिद्धान्त की बात और है। भगवान पतञ्जलिदेव अपने मुखारविन्द से बतलाते हैं कि—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्त संबोधः।

अर्थात् किसी योगी का जन्म किसी सांसारिक प्राणी का भी मन अपरिग्रह में स्थिरता पा जाये तो उसको अपने पूर्वजन्म की कथायें याद आ जाया करती हैं और वह बतलाया करता है कि मैं अमुक जगह रहता था और यह मेरा नाम था। यह उसकी मृत्यु के समय किसी भी प्रकार से उनके मन में अपरिग्रह की भावनाओं की स्थिरता आ जाये तो जन्म जन्मान्तर की कथायें याद आना देखने में आता है। किन्तु जन्म ग्रहण करते ही मनुष्य समाधिस्थ ही आए, ऐसे उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। हमारे इस लेख का विषय है कि "भव प्रत्यय" जन्म से ही निर्बीज समाधि की स्थिति को प्राप्त करना किसको होता है। भगवान पतंजलिदेव अपने योग-दर्शन में आज्ञा करते हैं—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।

अर्थात् जन्म मात्र से समाधि स्थिति केवल मात्र विदेह और प्रकृतिलयों को हुआ करती है। इस सूत्र से दो सूत्र पहले समाधि पाद के सत्रहवें सूत्र में पतंजलिदेवजी महाराज ने अपने मुखारविन्द से कहा है—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि पहले वितर्कानुगत, उसके बाद विचारानुगत, उसके बाद आनन्दानुगत और अस्मितानुगत ये चार भेद सम्प्रज्ञात समाधि के भगवान पतंजलिदेव ने स्वीकार किये हैं, उनमें से कैसी-कैसी स्थितियों में निकलता हुआ योगी निर्बीज समाधि तक पहुँचता है उसका श्रेणीबद्ध वर्णन भगवान व्यासदेव जी ने इसी सूत्र के भाष्य में स्पष्टी-

करण के साथ बिल्कुल विधिपूर्वक समझाया है। वह इस प्रकार है:—

वितर्क: चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग सूक्ष्मो विचार :। आनन्दो ह्लाद:। एकात्मिका संविदास्मिता। तत्रप्रथमश्च तुष्टयानुगत समाधि:सवितर्क:। द्वितीयो वितर्कविकल:। विचार:। तृतीयो विचारविकल: सानन्द:। चतुर्थस्तद्विकल: अस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बना: समाधय: ॥

अर्थात वितर्कानुगत समाधि उसको कहते हैं जिसमें योगी स्थूल विषय को सामने लेकर अभ्यास करता है और विचारानुगत समाधि में उससे सूक्ष्म विषयों का चिन्तन करता है और आनन्दानुगत समाधि में तन्मात्राओं का साक्षात्कार करने के बाद योगी आनन्दमग्न रहा करता है। उसके बाद जिस समय योगी जड़ और चेतन की गाँठ रूप एकात्मिता का अनुभव करता है उसको अस्मितानुगत समाधि कहते हैं, जिसमें दृग शक्ति जीवात्मा और दर्शन शक्ति बुद्धि का एकत्वेन आभास होने लगता है ये अभ्यास क्रम जब किसी योगी का चलता है तो प्रथम समाधि अर्थात वितर्कानुगत समाधि में विचारानुगत आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की स्थितियों की समय-समय पर अनुभूति होती रहती है। किन्तु इस श्रेणी से योगी जब आगे बढ़ता है तब इस सवितर्क समाधि के अनुभवों से ऊपर उठकर के दूसरी समाधि जिसको सविचार समाधि कहते हैं उसमें प्रवेश करके सविचार समाधि के सूक्ष्म विषयों को ही अनुभव करता है उसी बीच-बीच में आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की अनुभूति होती रहती है। इसी प्रकार से इसी अभ्यास क्रम से जब योगी आगे बढ़ता है तब उसकी आनन्दानुगत समाधि में स्थिति हो जाती है। सवितर्क और सविचार के विषयों से ऊपर उठ जाता है अब सानन्दानुगत समाधि में योगी अपने आप को हर समय आनन्द में देखता है और देहाभ्यास से रहित हो जाता है इस समाधि का आनन्द उस योगी को देह धर्मों से परे कर देता है, इसलिए वह योगी विदेह कहलाता है। इस अभ्यास से भी ऊँचा उठने पर योगी अस्मितानुगत की स्थिति को प्राप्त कर लेनेके बाद योगी केवल मात्र अस्मि प्रत्यय के अन्दर रहा करता है। वह योगी अपने आपको प्रभु की सर्वत्र व्यापक सत्ता में लीन होता हुआ देखता है और उसकी बुद्धि वृत्ति को केवल मात्र यही ज्ञान रहता है कि अस्मि-अस्मि अहमेवाऽस्मि" अर्थात मैं हूँ मैं हूँ यह जो कुछ मैं देख रहा हूँ वह मैं हूँ यह बुद्धि वृत्ति इस अस्मितानुगत योग में सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्टा होती है। ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ योगी अपने मन में सोचता है कि—

प्राप्तम् प्रापणीयं, छिन्न: श्लिष्टपर्वा भवसंक्रम: यस्याविच्छेदात् जनयित्वा म्रियते मृत्वा च जायते, क्षीणा: क्षेतव्या: क्लेशा: इति।

अर्थात् वह योगी मन में अनुभव करता है कि मुझे जो प्राप्त करना चाहिए था वह

प्राप्त कर लिया है। अंतव्य जो क्लेश थे वह क्षीण कर दिये। पौरी दर पौरी जुड़ा हुआ संस्कार-चक्र काट दिया है, जिसके न काटने पर बार-बार जन्म लेना व मरना पड़ता था। ऐसी स्थिति में पहुंचा हुआ योगी इससे आगे भी कुछ है, इस ज्ञान को छोड़ देता है। इसी स्थिति को पराकाष्ठा और परामति मान बैठता है। ऐसे योगी देह धर्म से तो बहुत आगे बढ़े हुए होते ही हैं, किन्तु इस निर्वाणोन्मुखी वृत्ति को ही पराकाष्ठा और परामति मान बैठते हैं और इस स्थितिमें अपने आपको कैवल्य भाव समझ बैठते हैं। ऐसी स्थिति वाले योगी प्रकृतिलीन कहलाते हैं। यथार्थ में उन्होंने अपने पूरे लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया, किन्तु अपने आपको मुक्तात्मा मान बैठते हैं, यह उनकी यथार्तानुभूति नहीं है। जहाँ पर मैं हूँ यह ज्ञान शेष है, यह ज्ञान भी बुद्धि वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाला गुणाधिकार से आवृत्त है इसलिये ऐसे योगी प्रकृतिलीन कहलाते हैं। इसलिये बहुत लम्बे समय तक प्रकृतिलीनावस्था में रहने पर भी इन लोगों को जन्म लेना पड़ता है और जो लोग आनन्दानुगत समाधि में परमानन्द का अनुभव करते हुए देहाध्यास से शून्य हो गये हैं, उनके भी चित्त की स्थिति साधिकार होनेसे उनको भी जन्म लेना पड़ता है। ऐसे योगी जब जन्म लेते हैं उनको जन्म लेते ही अपनी-अपनी इन समाधियों की अनुभूतियाँ स्वतः ही जारी हो जाती हैं और असम्प्रज्ञात स्थिति की ओर स्वतः ही चलने लगते हैं। इसीलिए भगवान् पतंजलिदेवजी ने "भव प्रत्ययोविदेह प्रकृतिलयानाम्" यह सूत्र कह करके विदेह और प्रकृतिलीन योगियों के लिए जन्म से ही समाधि को प्राप्त होना बतलाया है, किन्तु यहाँ सभी के मन में एक छोटी सी शङ्का और होगी, जैसा कि इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी ने दो शब्द कहे हैं—

विदेहानां देवानाम्, प्रकृतिलयानाम्
च योगीनाम् भव प्रत्ययो भवति।

अर्थात् विदेह देवताओं के लिए और प्रकृतिलीन योगियों के लिए जन्म लेना ही उनकी समाधि का कारण बन जाता है। इसमें एक बात और समझ लेने वाली है कि आनन्दानुगत को प्राप्त हुए योगी के मन में यदि यत्किंचित भी इन्द्रिय जन्य आनन्द की ओर प्रवृत्ति रह जाती है तो वह उस प्रवृत्ति के अनुसार देवताओं के दिव्य लोकों का उपभोक्ता बन जाता है और बहुत लम्बे समय तक वहाँ रहने के बाद यहाँ मनुष्य लोक में आकर जन्म लेता है तो जन्म लेते ही उसको उसी प्रकार योग, ध्यान आरम्भ हो जाता है। इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश जो उन्होंने अपनी भगवद्गीता के छठे अध्याय में बतलाया है वह भली प्रकार समझ लेना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए समझाया कि हे अर्जुन!

असंयतात्मना योगो,
दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता,
शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
—गीता ६/३६

अर्थात् जो लोग असंयतात्मा है अर्थात् अपनी इन्द्रियों पर अधिकार नहीं कर पाते, उनका योग का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है, किन्तु यदि कोई जितेन्द्रिय है और योगी बनना चाहता है तो वह शनैः शनैः योग को पा ही सकता है। भगवान् के इस प्रकार कह देने के बाद अर्जुन के मन में यह शङ्का हो गई कि वह आत्मवशी तो है नहीं, ऐसी स्थिति में वह योगी तो बन नहीं पायेगा तो फिर उसकी क्या गति होगी? इसी मन के सन्देह में अर्जुन ने फिर प्रश्न किया जो इस प्रकार है—

अयतिः श्रद्धयोपेतो,
योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं,
कां गतिं कृष्ण गच्छति॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट-
श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो,
विमूढो ब्रह्मणः पथि॥
एतन्मे संशयं कृष्ण,
छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य,
छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

—गीता ६/३७-३८-३९

अर्थात् जो व्यक्ति जितेन्द्रिय नहीं है और योग से जिनका मन विचलित हो गया है, ऐसा व्यक्ति योग-सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है? कहीं ऐसा तो नहीं हो जाता कि ब्रह्म-मार्ग की ओर चलता-चलता विचलित हो जानेके कारण वह शरत्-कालीन बादलों की तरह से उभयतो भ्रष्ट तो नहीं हो जाता। जैसे शरद्‌ऋतु में बादल उमड़ते हुए तो दिखलाई देते हैं, किन्तु थोड़ी ही देर में वे अपने आप ही छिन्न-भिन्न हो जाया करते हैं। हे प्रभो! मेरे मन में यह संशय है कि कभी वे लोग उभयतो भ्रष्ट हो करके न योगी ही रहे न भोगी ही रहे, बीच ही में तो नष्ट नहीं हो जाते। हे अखिलात्मा त्रिजगपावन श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को आप ही मिटा सकते हैं। आपके अतिरिक्त इस संशय का मिटाने वाला और कोई नहीं है। अर्जुन को इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने इस प्रकार दिया—

पार्थ नैवेह नामुत्र,
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्-
दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे,
योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव,
कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके,
जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं,
लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते
ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु
योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्ध-
स्ततो याति परां गतिम् ॥

—गीता ६/४५

अर्जुन के उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि—हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का न यहाँ नाश होता और न परलोक का ही कुछ बिगड़ता क्योंकि यह एक नियम की बात है कल्याण मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति कभी भी दुर्गति को नहीं प्राप्त हुआ करता ऐसा व्यक्ति पुण्यात्माओं के दिव्य स्वर्गलोकादि को प्राप्त करके और बहुत लम्बे समय तक रहने के बाद वह जब मनुष्य लोक में आता है तो उसका जन्म पवित्र पुण्यात्मा धन वाले के घर में या फिर योगियों के घर में ही होता है ऐसा जन्म भी इस मनुष्य लोक में अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म लेने के बाद उसका वह पौर्व देहिक बुद्धि-संयोग फिर पुनः मिल जाता है और उस पौर्वदेहिक बुद्धि संयोग को पाकर वह योगाभ्यासी फिर दोबारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसका पिछले जन्म-जन्मान्तरों का पौर्व देहिक अभ्यास उसको पुनः विवशता से योग में लगा देता है इसलिए हे अर्जुन एक साधारण योग का जिज्ञासु व्यक्ति भी कर्म-काण्ड के दायरे से बहुत आगे बढ़ जाया करता है। और इस प्रकार के बुद्धि संयोग को पाकर के जो योगी अनेक जन्म प्रयत्न करते-करते पाप पुण्य रहित होकर अवश्य ही परागति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार का बराबर उपदेश करने के बाद अखिलात्मा भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को बार-बार योगी बनने का आदेश दिया। सिद्धान्त रूप से विचार करके देखा जावे तो यह वही सिद्धान्त है जिसका निर्देशन भगवान पतञ्जलिदेव ने "भव प्रत्ययोविदेह प्रकृति लयानाम्" कहकर के समझाया है। निष्कर्ष की बात केवल मात्र एक रही कि भव प्रत्यय उन ही योगियों को हुआ करता है जो आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि को पा करके देह धर्मों से परे हो जाया करते हैं। उन्हीं को भव प्रत्यय रूप स्थिति प्राप्त हुआ करती है अन्य को नहीं।

सर्वे भवन्तु सुखिना
सर्वेसन्तुनिरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चित्दुःखभाग्भवेत् ॥

करण के साथ बिल्कुल विधिपूर्वक समझाया है। वह इस प्रकार है:—

वितर्क: चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग सूक्ष्मो विचार :। आनन्दो ह्लाद:। एकात्मिका संविदास्मिता। तत्रप्रथमश्च तुष्ट्यानुगत समाधि:सवितर्क:। द्वितीयो वितर्कविकल:। विचार:। तृतीयो विचारविकल: सानन्द:। चतुर्थस्तद्विकल: अस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बना: समाधय: ॥

अर्थात वितर्कानुगत समाधि उसको कहते हैं जिसमें योगी स्थूल विषय को सामने लेकर अभ्यास करता है और विचारानुगत समाधि में उससे सूक्ष्म विषयों का चिन्तन करता है और आनन्दानुगत समाधि में तन्मात्राओं का साक्षात्कार करने के बाद योगी आनन्दमग्न रहा करता है। उसके बाद जिस समय योगी जड़ और चेतन की गांठ रूप एकात्मिता का अनुभव करता है उसको अस्मितानुगत समाधि कहते हैं, जिसमें दृग शक्ति जीवात्मा और दर्शन शक्ति बुद्धि का एकत्वेन आभास होने लगता है ये अभ्यास क्रम जब किसी योगी का चलता है तो प्रथम समाधि अर्थात वितर्कानुगत समाधि में विचारानुगत आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की स्थितियों की समय-समय पर अनुभूति होती रहती है। किन्तु इस श्रेणी से योगी जब आगे बढ़ता है तब इस सवितर्क समाधि के अनुभवों से ऊपर उठकर के दूसरी समाधि जिसको सविचार समाधि कहते हैं उसमें प्रवेश करके सविचार समाधि के सूक्ष्म विषयों को ही अनुभव करता है उसी बीच-बीच में आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की अनुभूति होती रहती है। इसी प्रकार से इसी अभ्यास क्रम से जब योगी आगे बढ़ता है तब उसकी आनन्दानुगत समाधि में स्थिति हो जाती है। सवितर्क और सविचार के विषयों से ऊपर उठ जाता है अब सानन्दानुगत समाधि में योगी अपने आप को हर समय आनन्द में देखता है और देहाध्यास से रहित हो जाता है इस समाधि का आनन्द उस योगी को देह धर्मों से परे कर देता है, इसलिए वह योगी विदेह कहलाता है। इस अभ्यास से भी ऊँचा उठने पर योगी अस्मितानुगत की स्थिति को प्राप्त कर लेनेके बाद योगी केवल मात्र अस्मि प्रत्यय के अन्दर रहा करता है। वह योगी अपने आपको प्रभु की सर्वत्र व्यापक सत्ता में लीन होता हुआ देखता है और उसकी बुद्धि वृत्ति को केवल मात्र यही भान रहता है कि अस्मि-अस्मि अहमेवाऽस्मि" अर्थात मैं हूं मैं हूं यह जो कुछ मैं देख रहा हूं वह मैं हूं यह बुद्धि वृत्ति इस अस्मितानुगत योग में सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्टा होती है। ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ योगी अपने मन में सोचता है कि—

प्राप्तम् प्रापणीयं, छिन्न: श्लिष्टपर्वा भवसंक्रम: यस्याविच्छेदात् अनयित्वा म्रियते मृत्वा न जायते, क्षीणा: क्षेतव्या: क्लेशा: इति।

अर्थात् वह योगी मन में अनुभव करता है कि मुझे जो प्राप्त करना चाहिए था वह

प्राप्त कर लिया है। क्लेश जो क्लेश थे वह क्षीण कर दिये। पीरी दर पीरी जुड़ा हुआ संस्कार-चक्र काट दिया है, जिसके न काटने पर बार-बार जन्म लेना व मरना पड़ता था। ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ योगी इससे आगे भी कुछ है, इस ज्ञान को छोड़ देता है। इसी स्थिति को पराकाष्ठा और परामति मान बैठता है। ऐसे योगी देह धर्म से तो बहुत आगे बढ़े हुए होते ही है, किन्तु इस निर्वाणोन्मुखी वृत्ति को ही पराकाष्ठा और परामति मान बैठते हैं और इस स्थितिमें अपने आपको कैवल्य भाव समझ बैठते हैं। ऐसी स्थिति वाले योगी प्रकृतिलीन कहलाते है। यथार्थ में उन्होंने अपने पूरे लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया, किन्तु अपने आपको मुक्तात्मा मान बैठते है, यह उनकी यथार्तानुभूति नहीं है। जहाँ पर मैं हूँ यह ज्ञान शेष है, यह ज्ञान भी बुद्धि वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाला गुणाधिकार से आवृत है इसलिये ऐसे योगी प्रकृतिलीन कहलाते हैं। इसलिये बहुत लम्बे समय तक प्रकृतिलीनावस्था में रहने पर भी इन लोगों को जन्म लेना पड़ता है और जो लोग आनन्दानुगत समाधि में परमानन्द का अनुभव करते हुए देहाध्यास से शून्य हो गये हैं, उनके भी चित्त की स्थिति साधिकार होनेसे उनको भी जन्म लेना पड़ता है। ऐसे योगी जब जन्म लेते है उनको जन्म लेते ही अपनी-अपनी इन समाधियों की अनुभूतियाँ स्वतः ही जारी हो जाती हैं और असम्प्रज्ञात स्थिति की ओर स्वतः ही चलने लगते है। इसीलिए भगवान् पतंजलिदेवजी ने "भव प्रत्ययोविदेह प्रकृतिलयानाम्" यह सूत्र कह करके विदेह और प्रकृतिलीन योगियों के लिए जन्म से ही समाधि को प्राप्त होना बतलाया है, किन्तु यहाँ सभी के मन में एक छोटी सी शङ्का और होगी, जैसा कि इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी ने दो शब्द कहे हैं—

विदेहानां देवानाम्, प्रकृतिलयानाम् च योगीनाम् भव प्रत्ययो भवति।

अर्थात् विदेह देवताओं के लिए और प्रकृतिलीन योगियों के लिए जन्म लेना ही उनकी समाधि का कारण बन जाता है। इसमें एक बात और समझ लेने वाली है कि आनन्दानुगत को प्राप्त हुए योगी के मन में यदि यत्किंचित भी इन्द्रिय जन्य आनन्द की ओर प्रवृत्ति रह जाती है तो वह उस प्रवृत्ति के अनुसार देवताओं के दिव्य लोकों का उपभोक्ता बन जाता है और बहुत लम्बे समय तक वहाँ रहने के बाद यहाँ मनुष्य लोक में आकर जन्म लेता है तो जन्म लेते ही उसको उसी प्रकार योग, ध्यान आरम्भ हो जाता है। इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश जो उन्होंने अपनी भगवद्गीता के छठे अध्याय में बतलाया है वह भली प्रकार समझ लेना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए समझाया कि हे अर्जुन!

असंयतात्मना योगो,
दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता,
शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
—गीता ६/३६

अर्थात् जो लोग असंयतात्मा है अर्थात् अपनी इन्द्रियों पर अधिकार नहीं कर पाते, उनका योग का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है, किन्तु यदि कोई जितेन्द्रिय है और योगी बनना चाहता है तो वह शनैः शनैः योग को पा ही सकता है। भगवान् के इस प्रकार कह देने के बाद अर्जुन के मन में यह शङ्का हो गई कि वह आत्मवशी तो है नहीं, ऐसी स्थिति में वह योगी तो बन नहीं पायेगा तो फिर उसकी क्या गति होगी ? इसी मन के संदेह में अर्जुन ने फिर प्रश्न किया जो इस प्रकार है—

अयतिः श्रद्धयोपेतो,
योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धि,
का गति कृष्ण गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट-
श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो,
विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण,
छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य,
छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥
—गीता ६/३७-३८-३९

अर्थात् जो व्यक्ति जितेन्द्रिय नहीं है और योग से जिनका मन विचलित हो गया है, ऐसा व्यक्ति योग-सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ? कहीं ऐसा तो नहीं हो जाता कि ब्रह्म-मार्ग की ओर चलता-चलता विचलित हो जाने के कारण वह शरत्-कालीन बादलों की तरह से उभयतो भ्रष्ट तो नहीं हो जाता। जैसे शरद्ऋतु में बादल उमड़ते हुए तो दिखलाई देते है किन्तु थोड़ी ही देर में वे अपने आप ही छिन्न-भिन्न हो जाया करते है। हे प्रभो ! मेरे मन में यह संशय है कि कभी वे लोग उभयतो भ्रष्ट हो करके न योगी ही रहे न भोगी ही रहे, बीच ही में तो नष्ट नहीं हो जाते। हे अखिलात्मा त्रिजगपावन श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशय को आप ही मिटा सकते हैं। आपके अतिरिक्त इस संशय का मिटाने वाला और कोई नहीं है। अर्जुन को इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने इस प्रकार दिया—

पार्थ नैवेह नामुत्र,
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्-
दुर्गति तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे,
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव,
कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके,
जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं,
लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते
ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु
योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्ध-
स्ततो याति परां गतिम् ॥

—गीता ६/४५

अर्जुन के उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि—हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का न यहाँ नाश होता और न परलोक का ही कुछ बिगड़ता क्योंकि यह एक नियम की बात है कल्याण मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति कभी भी दुर्गति को नहीं प्राप्त हुआ करता ऐसा व्यक्ति पुण्यात्माओं के दिव्य स्वर्गलोकादि को प्राप्त करके और बहुत लम्बे समय तक रहने के बाद वह जब मनुष्य लोक में आता है तो उसका जन्म पवित्र पुण्यात्मा धन वाले के घर में या फिर योगियों के घर में ही होता है ऐसा जन्म भी इस मनुष्य लोक में अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म लेने के बाद उसका वह पौर्व देहिक बुद्धि-संयोग फिर पुनः मिल जाता है और उस पौर्वदेहिक बुद्धि संयोग को पाकर वह योगाभ्यासी फिर दोबारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसका पिछले जन्म-जन्मान्तरों का पौर्व देहिक अभ्यास उसको पुनः विवशता से योग में लगा देता है इसलिए हे अर्जुन एक साधारण योग का जिज्ञासु व्यक्ति भी कर्म-काण्ड के दायरे से बहुत आगे बढ़ जाया करता है। और इस प्रकार के बुद्धि संयोग को पाकर के जो योगी अनेक जन्म प्रयत्न करते-करते पाप पुण्य रहित होकर अवश्य ही परागति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार का बराबर उपदेश करने के बाद अखिलात्मा भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को बार-बार योगी बनने का आदेश दिया। सिद्धान्त रूप से विचार करके देखा जाये तो यह वही सिद्धान्त है जिसका निर्देशन भगवान पतञ्जलिदेव ने "भव प्रत्ययोविदेह प्रकृति लयानाम्" कहकर के समझाया है। निष्कर्ष की बात केवल मात्र एक रही कि भव प्रत्यय उन ही योगियों को हुआ करता है जो आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि को पा करके देह धर्मों से परे हो जाया करते हैं। उन्हीं को भव प्रत्यय रूप स्थिति प्राप्त हुआ करती है अन्य को नहीं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वेसन्तुनिरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चित्दुःखभाग्भवेत् ॥

योग एवं विकासवाद

✽ ब्रह्मचारी श्री दासलाल

सृष्टि उत्पत्ति क्रम का निरूपण वेद में निम्न मन्त्र से किया गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताऽग्रे,
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां,
कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ हिरण्यगर्भ पैदा हुए, वह समस्त प्राणियों का आश्रय था। उसी ने पृथ्वी, द्युलोक और पृथ्वी पर समस्त जीवोंको धारण किया हुआ था। उस हिरण्यगर्भदेव को छोड़कर हम किस देव की उपासना करें ?

हिरण्य का अर्थ है स्वर्ण अर्थात् जिसके गर्भ में स्वर्णमयी तेजपुञ्ज हो वह हुआ हिरण्य गर्भ। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को हिरण्यगर्भ माना जाता है। भगवान् सूर्य को भी हम हिरण्यगर्भ के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

सृष्टि उत्पत्ति व विकास के सिद्धान्त को मानने वाले आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार सबसे पहले सूर्य ही था। वह सूर्य अपनी परिधि में घूमता था। चक्कर लगाते-लगाते उसमें से एक गोला उससे अलग होकर गिर गया। धीरे-धीरे सहस्रों वर्षों में वह ठण्डा हो गया, यही पृथ्वी बन गई। इसमें सबसे पहले जलीय एक कोशीय जीव अमीबा उत्पन्न हुआ। अमीबा युग्लीना इत्यादि एक कोशीय जीव हुए, इन्हें केवल सूक्ष्मदर्शी यंत्रों की सहायता से ही देखा जा सकता है। इसके पश्चात् बहु-कोशीय जीव हुए। जलीय जीवों में मछलियां उत्पन्न हुईं, इसके अनन्तर जल स्थल दोनों में रहने वाले जीवों की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् सरीसृप जो पेट के बल चलने वाले जीव हैं, वे हुए, फिर पक्षी व स्तनधारी वर्ग के प्राणी उत्पन्न हुए। इस प्रकार विकास पाते-पाते बन्दर की आकृति उत्पन्न हुई। इन्हीं बन्दरों से मनुष्य का रूप सामने आया। विकासवादियों के सिद्धान्त को मानने वालों में से चार्ल्स डार्विन का (Evolutionary theory of Darwin) अधिक मान्य तथा सम्मत माना जाता है यह आधुनिक विकासवादियों का दृष्टिकोण है।

वैदिक मतानुसार, पहले ईश्वर एक ही था, उसने सोचा—"एकोऽहं बहुस्याम प्रजयेय। स एक्षत् स ततोऽजप्यत्।"

उस ईश्वर ने अपने संकल्प से ही सृष्टि की उत्पत्ति कर दी।

श्रीमद्भागवत पुराण में प्राणियों की उत्तरोत्तर क्रम से श्रेष्ठता बतलाई गई है।

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां,
ततः प्राण भृतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्त-
तश्चेन्द्रिय वृत्तयः ॥
तत्रापि स्पर्श वेदिभ्यः,
प्रवरा रस वेदिनः।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठा-
स्ततः शब्दविदो वराः ॥
रूप भेद विदस्तत्र,
तत्र ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठा-
श्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥

ततो वर्णाश्च चत्वारः,
तेषां ब्राह्मण उत्तमः।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो,
ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकः ततः॥

अर्थात् पाषाणादि अचेतनों की अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ हैं उनसे भी श्वास लेने वाले प्राणी श्रेष्ठ हैं। उनमें भी मन वाले प्राणी उत्तम और उनसे भी इन्द्रियों की वृत्ति वाले प्राणी श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियवान प्राणियों से भी केवल स्पर्श का अनुभव करने वाले तथा उनसे रस का ग्रहण करने वाले जलीय जीव मत्स्यादि श्रेष्ठ हैं। उनसे भी गन्ध का अनुभव करने वाले भ्रमरादि श्रेष्ठ हैं। भ्रमरादि से भी शब्द ग्रहण करने वाले सर्पादि श्रेष्ठ हैं। उनमें भी रूप का अनुभव करने वाले उत्तम हैं। उनसे भी ऊपर नीचे दाँत वाले श्रेष्ठ हैं। सर्पादि बिना पैर वालों से बहुत से चरण वाले श्रेष्ठ हैं। बहुत चरण वालों से चार चरण वाले तथा चार पाद वालों से भी दो पाद वाले श्रेष्ठ हैं। मनुष्यों में चार वर्ण श्रेष्ठ हैं, उनमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणों में भी वेद को जानने वाले उत्तम हैं। वेदज्ञों में भी वेद का तात्पर्य जानने वाले श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार से सृष्टि क्रम में देश विधि सृष्टि में सत्व, रज व तम की न्यून,धिक्य के कारण उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतलाई गई है। आधिभौतिक सृष्टि में भी "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः" के नियमानुसार सतोगुण वाले जीव ऊपर के लोकों में रजोगुण वाले मध्य के मर्त्य लोक में तथा तमोगुण वाले पृथ्वी के नीचे के लोकों में रहते हैं। योग-दर्शन में "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान् व्यासदेवजी ने समस्त संसार के प्राणियों को पाँच अवस्थाओं में बाँट दिया है। वे अवस्थायें हैं—

(१) मूढ़, (२) क्षिप्त, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र (५) निरुद्ध। इनमें मूढ़ावस्था के प्राणी वे हैं जो केवल आहार, निद्रा, भय, मैथुन की वृत्ति वाले हैं, पशु-पक्षी इसी वर्ग के प्राणी हैं। ये प्राणी बौद्धिक विकास शून्य होते हैं। क्षिप्तावस्था के प्राणी राक्षसादि हैं, जो पूर्ण तमोगुणी होते हैं। प्रमाद-निद्रा व आलस्य व पर-पीड़न इस अवस्था के प्राणियों का स्वभाव होता है। विक्षिप्त अवस्था के प्राणी वे होते हैं, जिनमें रजोगुण व सतोगुण दोनों रहते हैं। ये प्राणी धर्म, कर्म में विश्वास करने वाले स्वर्ग-नरक व ईश्वर के अस्तित्व में आस्था वाले हुआ करते हैं। देवगण भी इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इसके बाद की अवस्था एकाग्रावस्था है, जिसमें सतोगुण की प्रधानता रहती है। 'सत्वं लघु प्रकाशक मिष्टम्' के अनुसार सतोगुणी प्राणियों के अन्तःकरण में प्रकाश का उदय हो जाता है। "सर्वे भवन्तु सुखिनः" की भावना इस वर्ग के मनुष्योंमें पाई जाती है। विक्षिप्त अवस्था में आ जाने पर मनुष्य मानव कहलाने का अधिकारी हो जाता है, उसमें मानवीय गुण आने लगते हैं। धर्म और अधर्म दोनों मिले-जुले रहते हैं। एकाग्र अवस्था में पहुंच जाने पर वे मानवोत्तर श्रेणी में आ जाते हैं। सत्व

गुण का पूर्ण उदय हो जाने पर एकाग्रता की पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है। जिसमें, उसे सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि रूपी ऋत-म्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। आठ प्रकार की प्रज्ञा में ऋतम्भरा सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रज्ञा के आ जाने पर योगी सत्य द्रष्टा बन जाता है, उसकी बुद्धि में जो भी बात आयेगी वह सत्य ही आयेगी। ऐसे व्यक्ति ही किसी सिद्धान्त को सिद्धान्तित करने वाले होते हैं।

निरोधावस्था आ जाने पर चित्तवृत्तियों का बिल्कुल निरोध हो जाता है; जिसमें क्लिष्ट वृत्ति तो पूर्ण रूप से दब जाते हैं। अक्लिष्ट वृत्ति या शेष रहती है, जो हमें विवेक मार्ग में ले जाने के लिए सहायक होते हैं। चित्त के निरोध परिणाम में व्युत्थान संस्कारों का क्षय तथा निरोध संस्कारों का उदय होता रहता है। "तज्जः संस्कारो अन्य संस्कार प्रतिबन्धी" के अनुसार समाधि के जो संस्कार होते हैं, उनको भी प्रज्ञाकृत संस्कार हटाते व दबाते रहते हैं। अन्त में पर-वैराग्य के पूर्णतया दृढ़ हो जाने पर चित्त की समस्त वृत्तियाँ अपने कारणभूत अव्यक्त या परा-प्रकृति में लय हो जाती हैं। पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही निर्बीज समाधि है। जिसके निरन्तर दृढ़ता हो जाने पर योगी को कैवल्य लाभ हो जाता है।

योग-दर्शन में वर्णित इन पाँच अवस्थाओं में मूढ़ और क्षिप्त अवस्था के प्राणी योग में प्रवेश नहीं करते, क्योंकि इनका स्वभाव ही इस प्रकार का होता है कि वे इस ओर आना ही नहीं चाहते, क्योंकि इनमें विवेक बुद्धि नहीं होती है।

विक्षिप्तावस्था के प्राणी योगारूढ़ होना चाहते हैं। उन लोगों के लिए योग-दर्शन में तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान तथा श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि और प्रज्ञा आदि उपाय हैं। इसके साथ-साथ अभ्यास और वैराग्य भी नितान्त आवश्यक है। उत्तरोत्तर भूमिका को प्राप्त करने के लिए दीर्घकालिक निरन्तर व तप ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा के साथ किया गया अभ्यास दृढ़ भूमिका को प्रदान करने वाला होता है। तप-स्वाध्याय आदि अंगों का ठीक प्रकार से परिपालन करने पर साधक के चित्त के रजोगुण व तमोगुण दूर हो जाते हैं तथा सतोगुण का उद्भव हो जाता है।

सतोगुण वृद्धि के दो उपाय हैं—एक तो हठयोग द्वारा जिसमें विभिन्न आसन अष्ट-विध प्राणायाम, बन्ध एवं मुद्राओंका अभ्यास किया जाता है, जिससे इन्द्रियों के मल नष्ट हुआ करते हैं तथा पूर्णरूपेण नाड़ी-शोधन हो जाता है। नाड़ी-शोधन हो जाने पर चित्त की एकाग्रता की योग्यता बढ़ जाती है। क्योंकि नाड़ियाँ ही चित्त की प्रसार भूमि हैं। प्राणायाम से "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" अर्थात् प्रकाश के रास्ते में जो आवरण है उसका क्षय हो जाता है।

दूसरा उपाय है मनोलय का जो हठयोग के उपाय को छोड़कर (अनाधिकारी होने से) राजयोग व ध्यानयोग का अभ्यास करते हैं।

उनको भी सतोगुण की वृद्धि से एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। गुरुदेव प्रदत्त मन्त्र का निरन्तर श्वास-प्रश्वास से जाप तथा उनके बताये गये शरीरगत चक्रों का ध्यान करना होता है। गुरु-मन्त्र के जाप से अन्तःकरण के मल-आवरण दूर हो जाते हैं, जिससे सतोगुण की वृद्धि होती है। श्वास-प्रश्वास द्वारा अजपा गायत्री मन्त्र का निरन्तर अभ्यास ही सर्वश्रेष्ठ है।

शास्त्रों में अजपा की बड़ी महिमा कही गई है—

प्रथमा प्रतिमा पूजा,
जपःस्तोत्राणि मध्यमा।
ध्यान पूजा उत्तमा,
सोऽहं हि उत्तमोत्तमाः॥

उपरोक्त श्लोक में क्रम के उत्तरोत्तर साधनों की श्रेष्ठता बताई गई है।

योग एक ऐसा उपाय है जिससे मनुष्य जीव-सत्ता को लाँघ कर ईश्वरीय सत्ता को प्राप्त कर लेता है। शास्त्रों में जीवात्मा के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा-प्रयत्न और अज्ञान ये सब जीवात्मा में विद्यमान होते हैं। अज्ञान-जन्य-राग-द्वेष आदि क्लेशों से बँधा होने के कारण वह पशु कहा जाता है। 'मनुष्यो देवानां पशु' कहा गया है, क्योंकि देवताओंमें कुछ विशिष्ट ताकतें होती हैं, जिससे वह मनुष्य पर शासन करते हैं। देवताओं में दूर-दर्शन, दूर-श्रवण तथा अष्ट-सिद्धियां स्वाभाविक होती हैं, वे वर-शाप दे सकते हैं।

योग-दर्शन में ईश्वर का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।

अर्थात् जो क्लेश कर्म-विपाक एवं आशय से संस्पृष्ट नहीं है वह ईश्वर है अर्थात् इनमें यह क्लेशादि कभी भी नहीं होते हैं। ईश्वर के इस लक्षण से जीवका लक्षण भी हो गया। जीव क्लेश-कर्म-विपाक से परामृष्ट है अर्थात जीव में यह क्लेश-कर्म आदि सदा लगे हुए हैं। योगियों का परम लक्ष्य है क्लेश कर्मादि बन्धनों को काटकर ईश्वरीय सत्ता में आ जाये। प्राणायामादि के द्वारा या गुरु-प्रदत्त मन्त्रसे एवं ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा संयम अवस्था को प्राप्त हो जाने पर योगी योग-दर्शन के विभूति पाद में वर्णित सभी सिद्धियों व विभूतियों को प्राप्त कर लेता है। जिसके प्राप्त हो जाने पर अष्ट-सिद्धियाँ एवं दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि सिद्धियाँ योगी में प्रादुर्भूत होने लगते हैं। वह करोड़ों मील दूर का देखने वाला, करोड़ों मील दूर के शब्द को सुनने वाला बन जाता है—

ततः प्रातिभ श्रावण आदर्श स्वाद वार्ता जायन्ते।

श्वेताश्वरोपनिषद् के इस मन्त्र को चरितार्थ करने वाला बन जाता है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता स पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

योग-दर्शन में—

ततो मनोजवित्वम् विकरणभावः प्रधानजयश्च।

योगी का मन जहाँ-जहाँ पहुंचता है, तत्काल वहाँ शरीर भी पहुंच जाता है। मन के वेग के साथ शरीरका पहुंचना मनोजविता नाम की सिद्धि है। विकरण भाव का अर्थ है बिना ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि को ग्रहण करना "स पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः" की स्थिति प्राप्त हो जाती है। प्रधानजय का अर्थ है सम्पूर्ण स्थूल व सूक्ष्म भूतों पर विजय प्राप्त कर लेना। इस सिद्धि के आ जाने पर योगी सम्पूर्ण रूप से प्रकृति पर शासन करने वाला हो जाता है। जो पहले प्रकृति से शासित था वह अब प्रकृति पर शासन करने वाला बन जाता है तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा की भी दृढ़ स्थिति हो जाती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उसे धर्ममेघ नाम की समाधि मिल जाती है। जिसके आ जाने पर सर्व शातृत्व और सर्वाधिष्ठातृत्व की योग्यता आ जाती है। हृदय-ग्रन्थि व अज्ञान-ग्रन्थि विदीर्ण हो जाती है। "भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यते सर्वसंशयः क्षीयते चास्य कर्माणि-तस्मिन् दृष्टे परावरे।"

उस परावर आत्म-दर्शन के हो जाने पर, क्लेशकर्म दूर हो जाने पर,आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता। तब वह ईश्वर कोटि में आ जाता है।

कुछ दर्शनकार मानते हैं कि जीव कभी भी ईश्वर कोटि में नहीं पहुँचता है। परन्तु योग एवं वेदान्त-दर्शन के अनुसार वह उसी अखण्ड तेज में विलीन हो जाता है। घट के टूट जाने पर जैसे घटाकाश, महाकाश में मिल जाता है, उसी प्रकार से सूक्ष्म व कारण के भी अपने कारण में लय हो जाने पर त्रि-शरीरी घट के टूट जाने पर जीवात्मा पर-मात्मा में मिल जाता है।

योग से ही मनुष्य का शरीर मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। विभिन्न प्रकार के आसन, बन्ध-मुद्रायें तथा प्राणायाम द्वारा पूर्ण स्वस्थ रहा जाता है। रोगाक्रान्त हो जाने पर उनमें मुक्ति भी यौगिक साधनाओं से पाई जाती है। आसन, बन्ध, मुद्रायें और अष्टविध प्राणायाम द्वारा प्राण बलिष्ठ व तेजस्वी हो जाते हैं। प्राण जीवनी शक्ति है व जीवन का मूलाधार है। धारणा-ध्यान के अभ्यास द्वारा मन की एकाग्रता के पा जाने पर मन की शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित हो जाया करती हैं।

जप-तप, वैराग्य एवं ध्यानयोग द्वारा बौद्धिक विकास पूर्णता पा जाया करता है, जिससे अणिमादि ऐश्वर्यों का प्रादुर्भाव हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा उदित होती है, जिसमें दृढ़ता पा जाने पर प्रकृति पुरुष-विवेक हो जाता है, जो कैवल्य का दाता है।

अतः योग के द्वारा ही मनुष्य अपने जीव-सत्ता को छोड़कर ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है।

ॐ आदर्शहीन बड़े से बड़े काम की कोई कीमत नहीं।

—राजेन्द्र प्रसाद

अनर्थकारी अर्थ

❀ श्री परिपूर्णानन्द जी

गार्हस्थ्य जीवन में तथा लोकाचार के लिए निःसन्देह धन की नितान्त आवश्यकता है, विशेषकर आज के युग में। पर मानव जीवन का सबसे बड़ा शत्रु भी धन ही है—यह स्वीकार करना होगा। ईसामसीह ने गलत नहीं लिखा है कि "धनी का स्वर्ग में प्रवेश पाना असम्भव है।" इसका अर्थ केवल यही है कि धन मनुष्य को इतना अन्धा कर देता है कि वह संसार के सभी कर्तव्यों से गिर जाता है। धन का महत्त्व इसी में है कि वह लोक-सेवा में व्यय हो। नहीं तो धन के समान अनर्थकारी और कुछ भी नहीं है। जैसा कि शास्त्रों में कहा है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः,
काम: क्रोध: स्मयो मद: ।
भेदो वैरमविश्वास:
संस्पर्धा, व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था,
ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं,
श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥

'(धन) से ही मनुष्यों में से चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जुआ और शराब—ये पन्द्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं। इसलिए कल्याण कामी पुरुष को 'अर्थ' नामधारी अनर्थ को दूरसे ही त्याग देना चाहिए।'

फारसी कहावत है कि 'संसार में एक को स्त्री बनाकर यानी विवाह कर आदमी संसार भर की स्त्री बन जाता है अर्थात् गृहस्थ जीवन में उसे सबका आश्रित या पराधीन बनकर चलना पड़ता है।' यह भी तो धन की आवश्यकता की महिमा है। यदि संसार में धन नामक पदार्थ न होता तो हमारा जीवन कैसा होता! आखिर जीवन का लक्ष्य क्या है? हम सब अपने को सुखी बनाना चाहते हैं, सुख भोगना चाहते हैं। पर, सुख की अनेक प्रकार की व्याख्या हो सकती है। उसके अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। आज की सभ्यता की चमक-दमक में सुख की बड़ी विचित्र व्याख्यायें निकलती चली आ रही हैं। पर विलासपूर्ण सुख की प्रतिक्रिया भी होती है। आज बड़े-बड़े विचारक यह सोचने लगे हैं कि सुख की परिभाषा बदलनी चाहिए। उसकी वास्तविकता को समझना चाहिए।

पाश्चात्य लेखक बर्ट टेलर ने कुछ वर्ष पूर्व 'सुख का अधिकार' नामक एक रोचक तथा महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी। उसमें उनका कथन था—

'आज संसार में बहुत ही कम लोग सुखी कहे जा सकते हैं। भूतकाल में हमारा जीवन केवल रोटी कमाने में बीता। अब हमको समाज में अपना स्थान कमाने में बिताना चाहिए। केवल धन और समृद्धि ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। लक्ष्य होना चाहिए कभी भी दुःखी न रहना। हरेक के जीवनमें सबसे महान् प्रेरणा यह होनी चाहिए कि हमारा जीवन प्रकृति से अधिक से अधिक निकट हो और तर्क तथा बुद्धि से दूर न हो।

हमको अपने जीवन में काम करने का आदर्श समझ लेना चाहिए। यह आदर्श पेट का धंधा नहीं सेवा होनी चाहिए। सर्व-कल्याण, समाज-सेवा, सत्यनिष्ठ जीवन तथा विद्या ही हमारा कार्य-क्षेत्र हो। हमको ऐसे युग की कल्पना करनी चाहिए, जिसमें हमारा हेतु केवल जीविका उपार्जन न रह जाय, जीवन केवल अर्थोपार्जन या प्रतिस्पर्धा की वस्तु न रह जाय। व्यापार के नियम बदल जांय। एक काम के अनेक करने वाले हों और अनेक व्यक्ति एक ही कामको अपना सकें। मालिक और नौकरों में काम करने के घंटों की झिक-झिक दूर हो। मनुष्य केवल मनुष्य ही नहीं है, उसकी आत्मा भी हो, उसका देवता भी हो उसका इहलोक और परलोक भी हो।"

धन की इस दुनिया में, चकाचौंध के इस जीवन में जबकि सभ्यता का एकमात्र लक्ष्य केवल पैसा कमाना है, ऐसी आवाज उठाना एक बड़ी भारी बात है और इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अब लोग धन की मर्यादा से ऊब कर हमारी आर्य सभ्यता की प्राचीन तथा सत्ययुग की मर्यादा की ओर मुड़ रहे हैं। उन्हें ऐसा लगने लगा है कि यह सब आडम्बर मिथ्या है। धन ही विपत्ति की जड़ है, इसी से संसार का सब विग्रह प्रारम्भ होता है और वर्गवाद, साम्यवाद या साम्राज्यवाद का उपद्रव खड़ा हो जाता है। न धन की घुड़दौड़ रहे और न यह सब विपत्तियां खड़ी हों। न बांस रहे, न बजे बांसुरी।

भीतर देखो

बर्ट टेलर ने ठीक ही कहा है कि-"जीवन ही हमारा सबसे बड़ा शिक्षक है। उसका उपदेश ही हमारे सांसारिक जीवन के लिए पर्याप्त होगा। वह हमें ऐसी बातें बतलाता है, जिसे हमारे शिक्षक नहीं जानते। इसलिए सब कुछ छोड़कर जरा अपने जीवन को ही पढ़िये। हमें अपने को जानना चाहिये, अपने पड़ौसियों को जानना चाहिये, मानवी प्रतिक्रिया का ज्ञान होना चाहिये अन्य और हमें कुछ जानने की आवश्यकता ही क्या? जरा हमको बड़े-बड़े लोगों के दिल के भीतर की बातें तथा उनका भीतरी जीवन देखने दीजिये ताकि हम उनको पहचान सकें। तब हम राजनीतिज्ञों की कलाबाजियां और राजनीतिज्ञों की चालबाजियां समझ सकेंगे। हमको उनकी अपनी महत्वाकांक्षा तथा कामना की असलियत समझ लेने दीजिये। बतलाइये, तो कि हम किस पर भरोसा करें और कैसे करें। हमें तो यह सिखलाइये कि सब को पहचानें और अपने साथ, अपने कामों के साथ सचाई बरतने लगें। हमें यह सिखलाइये कि दूसरों के प्रति दुर्भाव न रखें, हमें चिन्ता शीलता के भयंकर दुःख से बचना सिखलाइये। रात-दिन ऊहापोह तथा सोच-विचार में पड़े रहना बन्द हो। शायद तभी हम सुख को पहचान सकें, समझ सकें, जान सकें और उसको अपना सकेंगे। जीवन क्षणभंगुर है, जवानी कल की बात मालूम होती है। जवानी सिनेमा-भवन, क्लब तथा खेल-कूद में बीत

गई। बुढ़ापा सिर पर है, अब उसका दुःख आ पहुंचा। युवक को सदाचारी तथा संयमी होना चाहिये। उसे गुरुजनों का आदर करना चाहिये तभी वे बुढ़ापा बे पायेंगे।

यदि हम अपने तथा दूसरों के हृदय के भीतर बैठकर यह समझ जायें तो हमारा जीवन कितना सुखी हो जायेगा। पर, आज हम ऐसा नहीं करते हैं, यह क्यों? इसका कारण धन की विपत्ति है। धन की दुनिया में निर्धनता का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। जब तक व्यक्तियोंको व्यक्तित्व के विकास को अवसर न मिले, तो वह सुखी नहीं हो सकता। न्यूयार्क नगरके प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री हेनरी लिकने अभी हाल में ही लिखा था कि जो सभ्यता व्यक्तित्व के विकास को रोकती है, बिना उसके निर्वासित हुए सुख नहीं मिल सकता। सुख वह इत्र है जिसे दूसरों को लगाने के पहले अपने को लगाना आवश्यक होता है। यह इत्र तभी बनता है, जब हम अपने हरेक कार्यको दूसरेकी सहायता के भावसे करें। हमें चाहे अपनी आवश्यकताओं का दमन ही क्यों न करना पड़े, पर हमें दूसरे के सुख का आदर करना पड़ेगा।' हेनरी सी० लिक आगे चलकर लिखते हैं—"सुख का सबसेबड़ा साधन निःस्वार्थ सेवा है।' उन्होंने एक अमेरिकन सिपाही की गत महायुद्ध काल की घटना लिखी है। वह सिपाही पेरिस गया था वहाँ के सुख भोगने के लिए। पर उसे सबसे अधिक आनन्द एक वृद्धा स्त्री का सामान ढोने में मिला। लिक की सलाह है कि परिवार तथा समाज को सुखी बनाने के लिए आत्मत्याग तथा आत्मबल सदैव आवश्यक है। इसके बिना न कोई स्वयं सुखी रह सकता है और न औरोंको सुखी कर सकता है।

समय का दुरुपयोग

व्यापक दुःख का एक प्रबल कारण समय का दुरुपयोग है। दिन-रात के चौबीस घण्टे कैसे बिताये जायें, यह भी हम भूल गये हैं। कैरिन कन (Karin Koon) नामक विद्वान प्रोफेसर ने वर्षों पूर्व एक लेख में लिखा था कि ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो सचमुच में आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हों। या तो हम बीते हुए कल की अपनी भूलों पर पश्चाताप करते रहते हैं या आने वाले कल की समस्याओं की चिन्ता में रत रहते हैं। वर्तमान में क्षणिक विश्रामका जो अवसर मिला, उसे हम खो देते हैं। आखिर हरेक के भाग्य में २४ घण्टे ही होते हैं। यदि आप इनका सदुपयोग सीख जायें तो थकावट तथा शिथिलता के विपरीत उत्साह तथा सुखका जीवन हो सकता है। यदि अपने २४ घण्टों का सदुपयोग किया जाय तो हरेक कामके लिये समय निकल सकता है। जो व्यक्ति समय पर काम करता है उसका काम पूरा होता है। जो कहता है अमुक काम के लिये समय नहीं मिलता वह झूठ बोलता है। जो नई सभ्यता की प्रसादस्वरूप हर समय घबड़ाया-हड़बड़ाया तथा भाग-दौड़ में रहता है उसे असली काम-काजी मत समझो। जिस व्यक्तिने रात्रि के समय आने वाले समय का कार्यक्रम नहीं

बना लिया तथा जिसने बिस्तरे से उठकर आँखें मूँदकर भगवान का ध्यान नहीं किया, उसका दिन कभी ठीक से नहीं बीतेगा। बिस्तर से जो कूदकर उठता है वह वैसी ही मूर्खता करता है जैसी कि मोटर-गाड़ी को चलाने वाला तीसरे गियर में गाड़ी 'स्टार्ट' करने में करता है। झटके से गाड़ी खराब हो जाती है। आँख खुलते ही कूद पड़ने वाला व्यक्ति शरीरकी मशीन को घिस डालता है।' इस प्रकार श्रीकैरिल रस ने आधुनिक सभ्यता की जल्दबाजी की कड़ी भर्त्सना की है।

विपत्ति की जड़

संसार में धन के सबसे बड़े उपासक यहूदी समझे जाते हैं। पर यहूदी-समाज में भी अब धन के विरुद्ध जेहाद शुरू हो गया है. 'यरूसलम मित्र-संघ' की ओर से 'चूज' (Choose) यानी 'पसन्द करलो' शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसका लक्ष्य है— 'तुम ईश्वर तथा शैतान दोनों की एक साथ उपासना नहीं कर सकते।' इसके लेखक श्री आर्थर ई० जॉन्स के सुन्दर विचार मैं पाठकों को भेंट कर रहा हूँ। जॉन्स साहब का कहना है—'न जाने किस कुघड़ी में रुपया-पैसा संसार में आया, जिसने आज हमारे ऊपर ऐसा अधिकार कर लिया है कि हम उसके अंग बन गये हैं। शायद इसका जन्म उसी दिन हुआ जब आदम और हौवा अदके उद्यान में फल के लालच में पड़ गये। ईसा २००० वर्ष पहले बेबीलनमें सम्राट हम्मुराबी का शासन था। उस समय तक रुपये का पूरा राज्य हो चुका था। पट्टा, बन्धक, सूद, कानूनी महत्व, कोष बटोरना, संचय आदि उसके सभी उपयोग सबके ध्यान में आ गये थे, प्रचलित थे। अब्राहम ने रुपया देकर कुछ जमीन खरीदी और उसकी लिखा-पढ़ी ठीक आज जैसी हुई। रुपया बेबीलन में ईश्वर बन गया और आज तक वह संसार में ईश्वर बना हुआ है।' आज की दुनियाँ असली ईश्वर को भूल गई, वह केवल "रुपया भगवान" को जानती है। इसीलिए किसी ने कहा है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः। स गुणज्ञः सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।

श्री जॉन्स कहते हैं—

यदि मैं यह कहूँ कि संसार की समृद्धि में सबसे बड़ी बाधा धन यानी रुपया है तो पुराने लोग चकपका उठेंगे, किन्तु आजसंसार में जो भी कुछ पीड़ा है वह इसी नीच देवता के कारण है। खाद्य-सामग्री का संकट, रोग-व्याधि—सबका कारण यही है। चूँकि सभी सुख की सभी वस्तुएँ इसी से प्राप्त की जा सकती हैं, इसीलिए संसार में इतना कष्ट है। जितना समय उपयोग की सामग्री के उत्पादन में लगता है, उससे कई गुना अधिक समय उन वस्तुओं के विक्रय में दाव-पेंच में लगता है। व्यापार की दुनिया में ऐसे करोड़ों नर-नारी व्यस्त हैं जो उत्पत्ति के नाम पर कुछ नहीं करते।

अनर्थ यह है कि आदमी एक-दूसरे को प्यार नहीं करते। यदि अपनाने की स्वार्थी भावना के स्थान पर प्रतिदान की भावना हो

कल्याण मार्ग

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

(निर्मल चित्त ही बलवान् होता है)

ब्यही मन असत् पदार्थों की संगति करने से मलीन और निर्बल हो जाता है और वही मन मालिक के प्रेम में लवलीन होकर निर्मल और दृढ़ निश्चयात्मक बन जाता है। भक्ति के मार्ग में सिद्धि भी उसे प्राप्त होती है जिसका मन निर्मल और निश्चय वाला बन जाता है।

उपरिलिखित वचनों में सम्पूर्ण ग्रंथों का सार समाया हुआ है। अतएव हमें चाहिए कि जितना भी हो सके जगत् की मोह-ममता से बचने और हृदय में प्रभु-प्रेम को उत्पन्न करने का यत्न करें। यदि हम इस कार्य में सफल हो गये तो समझो हमारे लौकिक एवं पारलौकिक समस्त कार्य पूर्ण हो गये, क्योंकि जब हमारे हृदय में परमेश्वर का वास हो जायगा तो हमारे समस्त कार्य परमेश्वर के कार्य बन जावेंगे।

अर्जुन को जब तक सम्बन्धियों का असत् मोह था, तब तक वह अशान्त और निर्बल था। उसका निर्बल मन एक-एक सम्बन्धी को देखकर विचलित हो रहा था। यद्यपि गाण्डीव धनुष जैसा दिव्य अस्त्र उसके हाथ में था, परन्तु मन की निर्बलता के कारण वह उसके हाथों से छूटा जाता था। कारण यह है कि उसका मन असत् मोह-ममता के रंग में रंग गया था। तभी तो युद्ध-क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी स्वजन-समुदाय को देखकर उसने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति ये शब्द कहे—

सीदन्ति मम गात्राणि,
मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे,
रोमहर्षश्च जायते॥

जाय तो हरेक वस्तु का अधिक महत्व हो जाय। आज लाखों आदमी हिसाब-किताब, बही खाते के काम में परेशान हैं और लाखों आदमी फौज, पल्टन या पुलिस में केवल इसलिए नियुक्त हैं कि वही खाते वालों की तथा उनके कोष की रक्षा करें। जेल तथा पुलिस की आवश्यकता रुपये की दुनिया में होती है। यदि वही लोग उत्पादन के काम में लग जाएँ तथा अपनी उत्पत्ति का आर्थिक मूल्य प्राप्त न कर शारीरिक सुख ही प्राप्त कर सकें तो संसार कितना सुखमय हो जाय। आज संसार में अटूट सम्पत्ति उच्च अट्टालिकाओं में, बैंक तथा बीमा कम्पनियों के भवनों में सेना और पुलिस-रक्षकों के दल में लगी हुई है। यदि इतनी सम्पत्ति और उसका बढ़ता हुआ मायाजाल संसार का पेट भरने में खर्च होता तो आज उसकी दुनिया कैसी होती। अस्पतालों में लाखों नर-नारियाँ रुपये की मार से या अभाव से बीमार पड़े हैं तथा लाखों नर-नारी जेल काट रहे हैं। प्रायः हर परिवार में इसका झगड़ा है। यदि धन की ममता न होती तो यह संसार कितना मर्यादित हो जाता।'

गाण्डीवं स्रंसते,
हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं,
भ्रमतीव च मे मनः ॥
—गीता १/२९-३०

मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प एवं रोमांच हो रहा है, हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है इसलिए मैं खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूँ।

अर्जुन के इन निर्बल शब्दों को पढ़कर हम अनुमान लगा सकते हैं कि उपरिलिखित वचनों में कितनी सत्यता है और यदि हमें भक्ति के कार्य में सिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा है तो कितनी आवश्यकता है, जागतिक मोह से बचकर रहने की ?

अर्जुन भी वही था और उसका मन भी वही था, किन्तु जब वह गुरु-ज्ञान के साबुन से स्वच्छ एवं निर्मल हो गया तो वह निर्बल से बलवान् होकर ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक बन गया कि अर्जुन ने महाभारत के युद्ध में अनेक शूरवीरों को पराजित किया। यही नहीं, उसने अपने इष्टदेव का कृपा-पात्र बनकर भक्ति के कार्य में भी सिद्धि प्राप्त की। परिणामस्वरूप उसका नाम इतिहास के गगन-मण्डल में आज भी जगमगा रहा है। यह सब उसके मन की शुद्धता एवं दृढ़ निश्चय का प्रताप है और ऐसा केवल इसीलिए हो सका, कि उसने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार आचरण किया।

एक प्रत्यक्षदृष्ट घटना है कि किसी गाँव के एक घर में आठ-दस डाकुओं ने डाका डाला। उस घर के मालिक के पास भरी हुई बन्दूक थी। वह घर की छत पर चढ़ गया, डाकू मकान के नीचे खड़े थे। यदि उसका मन सबल और दृढ़ निश्चय वाला होता तो सबकी इहलीला समाप्त कर देता, परन्तु उसका मन तो निर्बल था, क्योंकि उसके मन में जगत् का मोह भरा हुआ था। अतएव भय के कारण उसका हृदय धड़कने लगा और हाथ-पैर काँपने लगे। परिणाम यह हुआ कि बन्दूक उसके हाथ से छूटकर नीचे जा गिरी और डाकुओं ने घड़ी भर में उसके घर का सफाया कर दिया।

एक बार हमें एक इञ्जीनियर साहब से मिलने का संयोग हुआ। उन्होंने बताया कि शासन की ओर से मुझे यहाँ इसलिये भेजा गया है कि यहाँ का हवाई अड्डा अत्यन्त सुदृढ़ बनाया जाये, क्योंकि भविष्य में यहाँ बड़े-बड़े जैट विमान उतरा करेंगे। इन विमानों का धक्का साधारण हवाई अड्डा कदापि सहन नहीं कर सकता।

उनकी बातोंको सुनकर हमने उनसे कहा कि आपका मन भी तो (अपितु प्रत्येक मनुष्य का मन ही) एक हवाई अड्डे के समान है, जिसमें दुःखों-कष्टों के यान उतरते ही रहते हैं। जिनका मनरूपी अड्डा सांसारिक वासनाओं की मिट्टी से बना हुआ होता है, वे साधारण सा धक्का भी सहन नहीं कर सकते। इसी कारण संसार में प्रायः हृदय गति रुक

जाने की घटनायें होती रहती हैं। जिनका मन सशक्त और सबल होता है, वे प्रत्येक अवस्था में स्थिर बुद्धि रहते हैं।

एक बार का वर्णन है कि एक विमान हवाई अड्डे के पक्के मार्ग के स्थान पर दस-बीस फुट की दूरी पर नर्म भूमि में गलती से उतर गया और वह वहाँ जमीन में ही धँस गया और यान की सब मशीनरी नष्ट हो गई।

संसार में रहते हुए भी इसी प्रकार की परिस्थितियाँ जीवन में प्रायः आती ही रहती हैं। बलवान् मन वाले उनकी कुछ भी पर्वाह नहीं करते। वे इन परिस्थितियों को वायु के तीव्र झोंकों की भाँति समझते हैं, जो इधर से आते हैं और उधर चले जाते हैं, परन्तु निर्बल मन वाले मनुष्य के शरीर में वे बहुत तेज चुभते हैं जिसके कारण वे सदैव दुःखी एवं अशान्त बने रहते हैं।

जिन भाग्यशाली व्यक्तियों ने अपने मन का हवाई अड्डा सद्गुरु इन्जीनियर के अर्पण कर रखा है और उनकी आज्ञानुसार सत्संग रूपी सीमेण्ट, भक्ति-भजन रूपी रोड़ी-रेत तथा प्रेम रूपी पानी डालकर उसे सुदृढ़ बनाने में लगे हुए हैं, उन्हें कष्टों एवं कठिनाइयों के कितने ही धक्के क्यों न लगें, उनके दृढ़-विश्वासी मन पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं होता, जैसा कि सन्तों-भक्तों के जीवन-चरित्रों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है। उदाहरणार्थ, परम सन्त श्री कबीर साहब जी, भक्त प्रह्लादजी, मीराबाई, भक्त बिहारीदास जी आदि सन्तों-भक्तों पर संसार की ओर से दुःखों-कष्टों के कितने पहाड़ ढाये गये, भक्ति मार्ग में उन्हें कितनी बाधाओं का सामना करना पड़ा और उनके मन को कितने भीषण धक्के खाने पड़े, परन्तु उनके मन पर उन सबका तनिक भी प्रभाव न पड़ा और उनके पग अपने लक्ष्यसे तनिक भी नहीं लड़खड़ाये।

कारण यह था कि उनके मन में परमेश्वर की भक्ति दृढ़ हो चुकी थी। हवाई अड्डा बनाने लिए पहले उसके मसाले को दृढ़ करते हैं अर्थात् सीमेन्ट, रोड़ी, रेत, पानी आदि को मिक्स करने की मशीन में डालकर खूब घुमा-घुमाकर मिलाते हैं, तब वह मसाला सुदृढ़ होता है, फिर वह डगमगाता नहीं। इसी प्रकार सन्त सत्पुरुष भी पहले गुरुमुख जिज्ञासु के मनको सत्संग की रगड़ से सुदृढ़ बनाते हैं—

दोहा

द्वार धनी के पड़ि रहे धका धनी का खाय,
कबहुंक धनी निवाजई जो दर छाड़ि न जाय।
—कबीर जी

श्री कबीरजी कहते हैं कि सेवक! दृढ़ निश्चय से सद्गुरुदेव पूर्ण धनी के द्वार पर पड़े रहो और उनकी ओर से कितने भी कष्ट झेलने पड़ें, प्रसन्नतापूर्वक सहन करो। यदि दृढ़ निश्चय के साथ डटे रहोगे और द्वार छोड़कर भाग न जाओगे तो एक न एक दिन धनी की कृपा दृष्टि अवश्य ही तुम पर पड़ेगी और तुम प्रभु के प्रेमास्पद बन जाओगे।

यह सत्य है कि जो सेवक सद्गुरु की शरण में जाकर उनकी आज्ञा की चोट को सहन कर लेता है, उसको कोई संसारी चोट तो

क्या काल की चोट भी डांवाडोल नहीं कर सकती।

संसार की समस्त वस्तुओं को संसार के कारीगर ही सुदृढ़ बना सकते हैं, परन्तु आत्मा एक ऐसी उत्तम एवं निराली वस्तु है, जिसका ज्ञान केवल समय के सद्गुरु को ही होता है। संसार के बड़े से बड़े बैरिस्टर, दार्शनिक और वैज्ञानिक भी इसके विषय में सही ज्ञान नहीं रखते। आत्माको शुद्ध, निर्मल और सुदृढ़ करने का कार्य समय के सन्त सद्गुरु के सिवाय और कोई नहीं कर सकता।

जीवात्मा का मनुष्य शरीर पाकर सबसे आवश्यक एवं प्रथम कर्तव्य यही है कि समय के सन्त सद्गुरु की शरण-संगति में आकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करे और सद्गुरु की आज्ञानुसार चलकर अपनी आत्मा को शुद्ध, निर्मल तथा भक्ति में सुदृढ़ बनाये। आत्मा को सुदृढ़ बनाने के अतिरिक्त अन्य जितने कार्य हैं, वे अस्थायी एवं अनित्य हैं। वे सब कार्य कुछ समय के लिये ही हैं। उदाहरणार्थ, किसी ने घर, मकान, दूकान आदि के लिए सुदृढ़ तथा उत्तम फर्नीचर बनवा लिया, किसी ने अपने निवास-स्थान को सुदृढ़ बनवा लिया, परन्तु ये सब तो एक न एक दिन विलग हो जाने वाले हैं।

सोने के गढ़ से भी सुदृढ़ गढ़ कोई बनवा सकता है? किन्तु ऐसे सुदृढ़ गढ़ का निर्माण करवाने वाला रावण जैसा महाबली योद्धा भी जबकि उसे साथ न ले जा सका तो और कोई क्या ले जायेगा? साथ जाने वाली वस्तु तो परमेश्वर की भक्ति है। भक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी साथ नहीं जाता। रावण जैसे महा प्रतापी राजा ने इतना सोना एकत्र किया कि अपने समस्त राज-प्रासाद ही सोने के बनवा डाले, परन्तु परलोक में तो रत्ती-भर भी सोना उसके साथ न गया। सतपुरुषों का कहना है—

दोहा

भक्ति बिना क्या होत है, भरम रहा संसार।
रत्ती कंचन पाया नहीं, रावण मरती बार॥

—कबीरजी

माया एक नागिन के समान जगत् से लिपटी हुई है। जो इसकी सेवा करते हैं, उन्हीं को यह हड़प करलेती है।

ग्रन्थों में ऐसे सहस्रों प्रमाण विद्यमान हैं। आप दुर्योधन का ही उदाहरण ले लो। असत् माया को सत् समझकर उसने कौनसा पाप नहीं किया? गीताके प्रथम अध्याय के श्लोक छत्तीस वें में अर्जुन ने इस बात को माना है कि दुर्योधन आततायी है। आततायी महापापी को कहा जाता है और शास्त्रकारों के अनुसार उसमें निम्नलिखित छः दोष पाये जाते हैं—

(१) जो इस भावना से किसी के घर को आग लगाये कि उसमें रहने वाले सब लोग जलकर भस्म हो जाएं।

(२) जो भोजन में विष मिलाकर किसी को मारने का यत्न करे।

(३) जो किसी शस्त्रहीन को हथियार से मारना चाहे।

(४) जो धोखे से अन्य व्यक्ति का धन हड़पना चाहे।

(५) जो बलपूर्वक किसी के घर अथवा भूमि पर अधिकार करने का यत्न करे।

(६) जो किसी की स्त्री को बलपूर्वक घर में रखना चाहे।

उपरोक्त सब दोष दुर्योधन में थे। इन दोषों ने दुर्योधन को आँखें होते हुए भी अँधा बना रखा था। इसी कारण उसका मन निर्बल था और मन ही मन वह भय से हर समय काँपता और थरथराता रहता था। भय के कारण भीष्म और द्रोण के समक्ष सदैव सहायता के लिए हाथ फैलाता था।

किसी ने सत्य ही कहा है कि पापी के मारने को पाप ही महाबली है। वही पाप ही घुन के समान चिपट कर पापी की आत्म-शक्ति का नाश करके उसे खोखला बना देते हैं, जिसके कारण वह स्वप्न में भी भयभीत होता रहता है। प्रकट में वह चाहे अत्यन्त ठाट-बाट से क्यों न रहें, परन्तु भीतर ही भीतर उसे पापरूपी सर्प डंक मारते ही रहते हैं, जिसके कारण वह सदैव दुःखी रहता है।

दूसरों को ज्ञात हो अथवा न हो, परन्तु दुर्योधन को तो अपने पापोंकी जानकारी थी। इसी कारण वह हर समय मन ही मन दुःखी एवं अशान्त रहता था और अपने पापों के भय से हर समय काँपता रहता था, क्योंकि उसका मन निर्बल हो चुका था।

यदि कोई मनुष्य नियम के विरुद्ध बिना टिकट रेलगाड़ी में यात्रा करता है तो उसका मन भीतर ही भीतर काँपता रहता है। टिकट-चैकर को आया देखकर सीट के नीचे घुसकर छिपने का यत्न करता है। जब तक टिकट-चैकर डिब्बे में रहता है, तब तक वह लोगों के पैरों-तले दुबका पड़ा रहता है।

ठीक इसी प्रकार जिसके पास सद्गुरु के दिये हुए 'नाम' की टिकट नहीं है वह व्यक्ति भक्ति-नाम के सुन्दर, सुखद एवं आनन्ददायक वातावरण को छोड़कर विषय-विकारों के दुःखद वातावरण में जीवन व्यतीत करता है। जहाँ उसका मन, चित्त, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा आदि की अग्नि में जलता रहता है। वह स्वयं ही अपना शत्रु है और अपने लिए स्वयं ही शत्रु-सेना तैयार करता रहता है।

महा अभिमानी रावण को मन्दोदरी, अंगद और विभीषण ने कितना ही समझाया, परन्तु उसके कानों में अहंकार की रुई भरी हुई थी, उसने उनकी एक न सुनी। अपने हितैषियों को अपना शत्रु समझा और उनका निरादर किया। मन्दोदरी की बातों को हँसी में उड़ा दिया, अंगद की बातों को इस कान सुना उस कान से निकाल दिया और विभीषण को तो लात मार कर अपनी सभा से ही निकाल दिया। यद्यपि रावण भली-भाँति जानता था कि जिस बालि ने मुझे पकड़कर छः मास तक अपनी कांख में दबाये रखा था, उस महाबली बालि की इह-लीला श्री रामचन्द्रजी ने एक ही बाण में समाप्त करदी। उनके एक ही बाणसे मारीच जैसा राक्षस सौ योजनकी दूरी पर जा गिरा, खर-दूषण जैसे और भी कितने ही राक्षसों का देखते ही देखते अन्त कर दिया।

इसलिये उचित है कि हम पल-पल सचेत, सतर्क एवं सावधान रह कर गुरु-शब्द के अभ्यास द्वारा मन को शुद्ध, निर्मल बनाने का यत्न करते रहें।

वर्ण और गुणकर्म

ॐ श्री मोहनलाल शर्मा

सेवा निवृत्त ग्राम विकास अधिकारी हरदोई

स्वकर्म से वर्ण—प्रायः देखा गया है कि वर्तमानमें लोग जातीयता को वर्ण मानते हैं। जाति से यदि कोई ब्राह्मण के घर पैदा हुआ है, उसके कर्म खराब हैं तब भी उसे ब्राह्मण मानते हैं। यदि क्षत्रिय के घर पैदा हुआ है और उसके कर्म खराब हैं तो उसे लोग क्षत्रिय मानते हैं और यदि कोई वैश्यके घर पैदा हुआ है और उसके कर्म खराब है तो भी उसे वैश्य मानते हैं। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र के घर उत्पन्न हुआ है और उसके कर्म-गुण कर्म स्वभाव आदि अच्छे हैं तो भी उसे सब शूद्र मानते हैं, जबकि जिसका जैसा गुण-कर्म स्वभाव है वैसा भी वर्ण मानना चाहिए। जैसा कि भगवान् ने कहा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां
शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि
स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

—गीता १८/४१

× × ×

इसलिये—हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के भी तथा शूद्रों के भी कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए गुण विभक्त किये गये हैं अर्थात् पूर्व कृत कर्मों के संस्कार रूप स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार विभक्त किये गये हैं।

ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्मों का कथन

शमो दमस्तपः शौचं
क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्य
ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

—गीता १८/४२

उनमें अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि-धर्म के लिए कष्ट सहन करना और क्षमा भाव एवं मन इन्द्रियां और शरीर की सरलता आस्तिक बुद्धि शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्म तत्व का अनुभव भी, ये तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्मों का कथन

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं
युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च
क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

—गीता १८/४३

और शूर-वीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में भी न भागने का स्वभाव एवं दान और स्वामी-भाव अर्थात् निःस्वार्थ-भाव से सबका हित सोचकर शास्त्रानुसार शासन द्वारा प्रेम के सहित पुत्र-तुल्य प्रजा का पालन करने का भाव ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

वैश्य और शूद्र के स्वाभाविक कर्मों का कथन

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं
वैश्यकर्म स्वभावजम्।

चित और चित्त की वृत्तियाँ

❀ श्री धर्मेन्द्रकुमार गौतम

चित्त और चित्त की वृत्ति कहने से हम उस कही हुई वस्तु को समझें कि चित्त क्या है तथा उसकी वृत्तियां है ? चित्त मन-स्तत्व रूप है, वृत्तियां उसकी तरंग रूप हैं। जब बाहर के कुछ कारण उसके ऊपर काम करने लगते है उसी समय वे रूप धारण करते है। हम जिसको जगत् कहते है, वे सब चित्त की वृत्तियां है। इस बात को और भी स्पष्ट करके बताना होगा। पातंजल योग-दर्शन के टीकाकार कहते है कि "विषय सम्बन्धो-चित्तस्य या परिणति सा वृत्ति।" विषयों के सम्बन्ध से चित्त का जो परिणाम होता है, उसका ही नाम वृत्ति है। यहाँ एक नदी की बात याद करनी चाहिए। हम नदी की तली को जल बहता रहने के कारण नहीं देख पाते है, क्योंकि उसके ऊपर छोटी-छोटी तरंगें बनी रहती है। यदि जल स्थिर होता है तो हम उस नदी की तली को देख सकते हैं। यह जल क्रम से तरंगें उठने के कारण चंचल हो रहा है, इसलिए हम तली को नहीं देख पाते है। अब समझो कि नदी की तली ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। नदी चित्त है और बुल-बुले व तरंगें उसकी वृत्तियां है। नदी में जो तरंग उठती है वह नदी की तली में से ही उठती है। जब ऊपर आती है तभी हम उसको देख पाते है। यह जो समय की गाड़ी घर-घर करती हुई चली गई, जितने लोगों के पास करके गई उन सभी को ही उस गाड़ी के जाने की खबर नहीं है। यदि सबको खबर होती तो बहुत से उससे लगे हुए से क्यों हो जाते, वे सब ही बच जाते। बहुत से उधर को ही देख रहे थे तब भी उनको वह गाड़ी नहीं दीखी। इसका क्या कारण है ? कारण यही है कि चित्त (मन) दर्शनेन्द्रिय चक्षु से संयुक्त नहीं था। इसलिए पहले बाहर का यंत्र फिर इन्द्रिय इन दोनों से मन युक्त होना चाहिए। मन (चित्त) जो अनुभव करता है,

---

परिचर्यात्मकं कर्म
शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
—गीता १८/४४

तथा खेती, गोरक्षा-पालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म है और सब वर्णों की सेवा करना यह शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।

स्वाभाविक कर्मों से भगवत प्राप्ति का कथन और उनकी विधि

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः
संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं
यथा विन्दति तच्छृणु ॥
—गीता १८/४५

इस अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है। परन्तु जिस प्रकार से अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है, वह निष्काम कर्म ही होता है।

उसका संस्कार लेकर निश्चयात्मिका बुद्धि के पास पहुंचा देता है। उसके पहुंचते ही बुद्धि में से उसकी एक प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के साथ अहंभाव जाग उठता है। वह क्रिया और प्रतिक्रिया मिलकर जीवात्मा के पास पहुंचते हैं। उस समय जीवात्मा इस समष्टि रूप क्रिया और प्रतिक्रिया को एक वस्तु रूप से पाता है। इन्द्रियाँ मन निश्चयात्मिका बुद्धि और अहंकार मिलकर जो कुछ होता है, उसको अन्तःकरण कहते हैं। चित्त नामक मन के भीतर ये सब भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया रूप हैं। चित्त के भीतर के इस सब चिन्ता-प्रवाह को वृत्ति कहते हैं।

अब यह जानना चाहिए कि चिन्ता किसको कहते हैं? चिन्ता मध्याकर्षण व विकर्षण शक्तिके समान एक शक्ति है। प्राकृतिक शक्ति के अक्षय भण्डार में से यह शक्ति ली गई है। चित्त इस शक्ति को ग्रहण करता है और जब वह भौतिक शक्ति के दूसरे छोर पर पहुंचती है तब उसको चिन्ता कहते हैं। यह शक्ति जीव के खाये हुए पदार्थों में से ग्रहण करती है। खाये हुए पदार्थों की शक्तिमें से ही शरीर की गति इत्यादि शक्ति होती है और चिन्ता रूप अति सूक्ष्म शक्ति भी इससे ही उत्पन्न होती है। इसलिए मन चैतन्य नहीं है, परन्तु चैतन्यमय सा प्रतीत होता है। चैतन्यमय प्रतीत होने का कारण यह है कि चैतन्यमय उसके पीछे लगा हुआ है। तात्पर्य यह है कि जो 'मैं' है वह आत्मा है, मन केवल एक यन्त्र है। उस यन्त्र के द्वारा हम बाहरी जगत् का अनुभव मात्र करते हैं। यह मन तीन प्रकार की अवस्थाओं में रहता है। शास्त्रों के अनुसार सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से ये तीन प्रकार की अवस्थायें होती हैं। मन जब शांत होता है, निर्मल होता है, स्थिर होता है तब उसको सत्व-गुण की अवस्था कहते हैं। यही मन की स्वाभाविक अवस्था है। नदीका जल निर्मल और शान्त होने पर जैसे उसकी तली दीखती है, ऐसे ही मन के निर्मल और शान्त होने पर उसकी तली अर्थात् चिदानन्द निरंजन आत्मा का दर्शन होता है।

दूसरी अवस्था रजोगुण की है। इस अवस्था में मन बाहर के कामकाज को लेकर बड़ा ही व्यस्त होता है। इस अवस्था में केवल प्रभुता और भोग की इच्छा होती है, इसमें चित्त बराबर चञ्चल रहता है, इसलिए ही अत्यन्त मलिन न होने पर भी चञ्चलता के कारण चित्त की तली व निरंजन आत्मा का दर्शन नहीं हो पाता है।

तीसरी अवस्था तमोगुण की आती है। जिस प्रकार नदी के जल को घंघोल देने के साथ इस अवस्था की तुलना की जा सकती है। पशुओं का मन ऐसा ही होता है, उसमें नित्य अन्धकार भरा रहता है। भोजन, निद्रा स्त्री-पुत्रों का पालन और खाने-पीनेके पदार्थों को एकत्र करने के सिवाय जगत में कोई और कार्य नहीं है। कोई और उच्च चिन्ता है, कोई ऊंचा उद्देश्य है। यह बात उनके मन में आती ही नहीं। पशुओं के ऐसे मन के समान ही तमोगुणी मनुष्यों का भी मन होता है।

नदी के जल की स्वाभाविक अवस्था जैसे निर्मल होती है, चित्तकी स्वाभाविक अवस्था भी ऐसे ही निर्मल होती है। मिट्टी आदि के मैल से जैसे जल गदला हो जाता है, वैसे ही वायु के संयोग से वह जल चञ्चल हो जाता है। ऐसे ही चित्त सदा सत्व गुणमय निर्मल और शान्त होने पर भी तमोगुण के संयोग से विशेष मलिन और रजोगुण के संयोग से चंचल हो जाता है। इसी कारण हम स्वरूपा-वस्था को नहीं समझ सकते। चित्त सदैव ही अपनी स्वाभाविक पवित्र अवस्था को फिर पाने के लिए चेष्टा करता है, परन्तु इन्द्रियाँ सदैव बाहर को घसीट कर ले जाने के लिए खींचती रहती हैं। इन बाहर को जाने की वृत्ति को रोकने का ही नाम योग है। इस खिचावट का सदैव चञ्चल वृत्ति का दमन होने पर ही मनुष्य अपने स्वरूप को जान सकता है। उस समय प्रकृति उसकी दृष्टि में अति तुच्छ मालूम होती है। जैसे सोना और चाँदी पहले मिट्टी आदि से सने हुए होते हैं। अन्त में उत्तम प्रकार से धुलकर तेजोमय हो चमकने लगते हैं। ऐसे ही देही आत्म-तत्व का दर्शन करके एक स्वरूप कृतार्थ और दुःख से मुक्त हो जाता है, उस समय वह काल को भी जीत लेता है और सभी ज्ञान एक मुहूर्तमें उसके सामने आकर खड़ा हो जाता है। आत्मा अपनी खोई हुई महिमा को फिर पा जाता है। चित्त की वृत्तिको चित्तकी अवस्था भी कहते हैं। योग-शास्त्र में उस वृत्ति व अवस्था को पाँच भागों में बाँटा है—

(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध।

(१) बाहरी वस्तुओं की चाहना से चित्त जिस समय चलायमान हो उठता है, जिस समय एक विषय का विचार करते हैं और दस विषय आकर उपस्थित हो जाते हैं, उस समय चित्त की क्षिप्त अवस्था होती है।

(२) कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का ज्ञान न होकर केवल शत्रु के वशमें होकर काम करने-फिरने का नाम मूढ़ अवस्था है।

(३) कभी शत्रु के वश में, कभी बड़ी भारी चिन्ता में, कभी वासना की आगमें और कभी धर्मामृत में मग्न हो जाने का नाम विक्षिप्त अवस्था है।

(४) इस अवस्था में मन अपने केन्द्र की ओर जानेकी चेष्टा करता है, परन्तु इन्द्रियों की खिचावट से बीच में ही फिसल पड़ता है, फिर आता है, फिर फिसल जाता है। जब आत्मा का एक भावसे एक तान होकर ध्यान किया जाता है तब एकाग्र अवस्था होती है।

(५) निरुद्ध अवस्था में चित्त अपनी कारणी-भूत प्रकृति में विलीन और किये हुए काम के समान निश्चेष्ट होता है। जले हुए डोरे के समान केवल संस्कार भाव को प्राप्त होता है। उस समय उस चित्त में विषय-रूप परि-णाम नहीं दीखता। आत्मा के अस्तित्व से ही उस समय पूर्ण ज्ञानवान् और आनन्दमय होता है। निरुद्ध अवस्था में चित्त प्रकृति में

लीन हो जाता है, परन्तु आत्मा के समीप उस समय प्रकृतिका काम समाप्त हो जाता है, क्योंकि इन्द्रियाँ फिर उसको नहीं चाहती हैं। उस समय वे घूम-घाम कर अपने केन्द्र में आकर खड़ी हो गई हैं। आत्मा उस समय प्रकृति के स्वरूप को देखने से मुक्त होता है। प्रकृति का काम भी सिमट गया है। वह जो आत्मस्वरूप को भूले हुए जीवात्मा को क्रीड़ा कराने में लगी हुई थी, जितने भी प्रकार के भोग हैं, वह उसको करा रही थी—जितने प्रकार की भी अभिव्यक्ति और विकार हैं, वे सब दिखा रही थी, वह सब समाप्त हो जाता है। उस समय वह करुणामयी जिस मार्गसे आई थी उसी मार्ग से लौट जाती है। जिन सकल क्रियाओं के द्वारा वह चित्त की निरुद्ध अवस्था आकर प्राप्त होती है तो दूसरी चारों अवस्थायें दूर हो जाती हैं। जीवन के कर्त्तव्य मार्ग को भूले हुए मनुष्य फिर देख पाते हैं। उन सब क्रियाओं के अभ्यास व शिक्षा का नाम योग-साधना है। अर्थात् चित्त और चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध अवस्था में ले आना योग-साधना का उद्देश्य है।

निरुद्ध अवस्था हमारे भोले भण्डारी गुरुदेवजी के चरण-कमलों की कृपा से लगन लगाने पर, जो प्रभुजी के चरण-कमलों में गुरु-भाई विशेष प्रेम रखते हैं, उन्हीं को हो पाती है। गुरुदेव जी के चरण-कमलों में कोटिशः प्रणाम है।

—❀❀—

सुखी रहना चाहते हो तो निष्पाप रहो।

—अज्ञात

—❀ अमृत वाणी ❀—

मैं भी कृषक हूं। मेरे पास श्रद्धा का बीज है। उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है।

प्रज्ञा मेरा हल है। ह्री (पाप करने में लज्जा) की हरिस, मन की जोत और स्मृति की फाल से मैं अपना खेत जोतता हूँ।

सत्य ही मेरी खुरपी है। मेरा उत्साह ही मेरा बैल है और यह योग-क्षेम मेरा अधिवाहन है। इस हल को मैं निरन्तर निर्वाण की दिशा में ही चलाया करता हूँ।

मैं यही कृषि करता हूँ। इस कृषि से कृषक को अमृत फल मिलता है और वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

× × × ×

आरोग्य परम लाभ है। संतोष परम धन है। विश्वास परम-बन्धु है और निर्वाण परम सुख है।

× × × ×

कोई भी सुगंध चाहे वह चन्दन की हो, चाहे तगर की या चमेली की, वायु से उल्टी ओर नहीं आती, किन्तु सत्पुरुषों की सुगंध वायु से उल्टी ओर भी जाती है। सत्पुरुषों की सुगंध सभी दिशाओं को सुवासित करती है।

—भगवान् बुद्ध

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

(चरक संहिता से संग्रहीत)

शरीरं सत्व संज्ञं च व्याधी नामाश्रयो मनः ।
तथा सुखानां योगस्तु सुखान्तं कारणं समः ॥

अर्थात्—व्याधियों यानी रोगों के दो ही आश्रय हैं । एक शरीर और दूसरा सत्व यानी मन या चित्त । और आरोग्य के भी आश्रय यह दोनों शरीर और मन ही हैं ।

निर्विकारः परस्वात्मा सत्वभूत गुणेन्द्रियैः ।
चैतन्यो कारणं नित्यो दृष्टा पश्यति हि क्रिया: ॥

अर्थात्—मन और शरीर दोनों से पर अर्थात्—सूक्ष्म आत्मा स्वतः निर्विकार है, उसमें रोग आदि नहीं होते । यह आत्मा ही मन-भूतों के गुण, शब्द, गंध, रूप, रस, स्पर्श और इनके ग्रहण करने वाली इन्द्रियों के साथ रहकर शरीर की चेतना का मूल कारण है । वह आत्मा नित्य है और शरीर में होने वाली सब क्रियाओं का दृष्टा अर्थात्—साक्षी है, वह सबको देखता है ।

वायुः पित्त कफश्चोक्तः शारीरो दोष संग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजस्तम एव च ॥

अर्थात्—वायु, पित्त और कफ ये तीन शरीर गत दोष हैं । रज और तम ये दो मन के दोष हैं ।

प्रशाम्यत्योषधैः पूर्वो दैवयुक्ति व्यपाश्रयैः ।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्य स्मृतिसमाधिभिः ॥

अर्थात्—शरीरगत दोष दैव, और युक्ति का आश्रय लेकर सेवन किये गये औषधों से शान्त हो जाता है, और मानस दोष ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और समाधि के अभ्यास से शान्त होता है ।

अहंकारस्त्वाग्नि मनोधृतीनां धर्मस्य कीर्त्तेर्यशसः श्रियश्च ।
तथा शरीरस्य शरीरिणश्च स्याद् ब्रादशास्त्विह्मिन आत्मशब्दः ॥

यहाँ साक्षी आत्मा ही आत्मा है । जैसे योगी शान्त होकर जगत् की सब क्रियायें देखता है वैसे आत्मा भी मन आदि कारणों से सुख-दुःख आदि भोगता हुआ भी असङ्ग, उनसे पृथक् है ।

रुक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः ।
विपरीत गुणोर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥

वात के गुण—वायु रुक्ष (रुखा) शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर होता है। वह इनसे विपरीत गुण वाले द्रव्यों से शान्त हो जाता है।

स्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥

पित्त के गुण—पित्त स्नेह सहित, (चिकना), गरम, तीखा, (कड़ुआ) द्रवरूप, खट्टा, सर (गतिशील दस्तावर, फैलने वाला और कटु (तीता) होता है। वह इनसे विपरीत गुण वाले द्रव्यों से शान्त होता है।

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥

कफ के गुण—कफ गुरु (भारी), शीत, मृदु, स्निग्ध (चिकना) मधुर (मिठास लिये) स्थिर, पिच्छल, (फिसलना) होता है। कफ के गुण उक्त गुणों से विपरीत गुण के द्रव्यों से शान्त होते हैं।

स्वादम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तकाः ।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषाय कटुतिक्तकाः ॥

मधुर, अम्ल और लवण ये वायु (वात को शान्त करते) हैं. कषाय, मधुर और तिक्त ये पित्त को शान्त करते हैं कषाय कटु और तिक्त कफ को शमन करते हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

वश में किए हुये मन वाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर मुझ पर परमेश्वर के स्वरूप में लगता हुआ मुझ में रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठा रूप शान्ति को प्राप्त होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैवचार्जुन ॥

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वाले का, न बिल्कुल न खाने वाले का, न बहुत शयन करनेके स्वभाव वालेका और न सदा जागने वालेका ही सिद्ध होता है। —गीता

मन को कैसे संतुलित करें ?

❀ श्री स्वामी विवेकानन्द

पवित्र बनने के लिए अपने कर्मों पर ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि पिछले जन्मों के विकर्मों का बीज मिटाना है, दूसरे यह ध्यान देना है कि अब कहीं विकारों के वश ऐसा कर्म न हो जाए कि जिससे विकर्म खाता और भी बढ़ जाए। मन में विकारों के तूफान आवेंगे अवश्य परन्तु आप कर्मेन्द्रियों से कोई विकर्म न होने दें। मन तब तक सीधा नहीं होगा जब तक कि कर्मों पर कन्ट्रोल नहीं करोगे। ऐसे मत समझो कि ज्ञान सुनते-सुनते मन अपने आप ही साफ होता जायेगा और विकार मिटते जायेंगे। नहीं-नहीं, कथा प्रवचन सुनते-सुनते तो द्वापर युग और कलियुग गुजर गये हैं परन्तु जीवन अभी भी नहीं बदला है। जब तक कर्मों पर पूरा ध्यान नहीं दोगे, तब तक मन ठीक नहीं होगा। मन पर तो पहले से ही पापों का बोझ चढ़ा हुआ है; अगर आप अब भी मन को बुरे कर्मों से बचायेंगे नहीं तो सत्य की शक्ति आएगी कैसे ? हमारे जीवन का क्षण-क्षण कर्मों के अनुसार ही तो चलता है। इसलिए कर्मों के विषय में सावधान होना तो बहुत जरूरी है। वरना मन अपने आप कैसे ठीक होगा ? जिन विकर्मों से मैल चढ़ा है, अगर वही विकर्म फिर भी करते रहोगे तो मैल उतरेगा कैसे ? कर्मों को पवित्र बनाना ही तो इस समय का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है।

बहाना व्यर्थ है ?

योग की कठिनाई का बहाना व्यर्थ है

आप देखेंगे कि मनुष्य हमेशा उसी काम को करता है जो सहज हो। वह कोशिश करता है कि कठिन काम भी किसी तरह सहज हो जाय। परन्तु आज लोगों ने यह गलत धारणा बना रखी है कि परमात्मा को याद करना, उसकी स्मृति में मन को स्थित करना बहुत ही कठिन है, उसके लिए हठ-क्रियाएं करनी पड़ती हैं, उपवास करने पड़ते हैं, जंगलों में कन्द-मूल पर निर्वाह करना पड़ता है, आदि-आदि। साधु-सन्त भी प्रतिदिन उन्हें अपने व्याख्यान में यही कहते हैं कि मन बड़ा चञ्चल है इसलिए मनुष्य आज पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि मन चञ्चल , तो चञ्चल ही सही। वे कभी घण्टा-आधा-घण्टा परमात्मा की स्मृति में बैठते भी हैं तो उनके मन में आनन्द-रस की प्राप्ति नहीं होती। अतः वे आगे के लिए यत्न करना छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि—पता नहीं मन लगेगा भी या नहीं। अतः वे सोचते हैं कि आँखें बन्द करके दो सेकेण्ड ईश्वर के प्रति हाथ जोड़ देना ही काफी है। परन्तु उन दो मिनटों में भी उनका मन स्मृति में स्थिति का परम आनन्द लेने का सौभाग्य नहीं पाता। अब वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य की यह हालत उस परमपिता का तथा अपना यथार्थ परिचय न होने

के कारण, परमात्मा की स्मृति में एकतानता के बारे में साधुओं के झूठे कथनों के कारण और पुरुषार्थ-हीनता के भाव तथा आलस्य के स्वभाव के कारण ही हैं। जरा बताइऐ कि माँ अपने बच्चे को बोलना सिखाने के लिए कितनी मेहनत करती है ?

फिर बच्चे को चलना तथा भाषा सिखाने में उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है! तब कहीं उस मेहनत के फलस्वरूप वह बच्चा बड़ा होकर कोई स्पीकर (वक्ता), विचारक अथवा विद्वान् एवं गुणवान् व्यक्ति बन जाता है। यदि पहले उस पर मेहनत न होती तो वह गूँगा रह जाता और चलने के बजाय खिसक-खिसक कर बढ़ता। अतः लोग बच्चों के लिए तो कोशिश करते हैं कि उनका पूरा विकास हो। वे उसे किताबें भी खरीदकर देते हैं ताकि उसकी बुद्धि विकसित हो और वह अपने पाँव पर खड़ा हो सके। फिर वे यह भी खयाल करते हैं कि उसे कमाई का भी कोई साधन प्राप्त हो। फिर उसको वे घर भी बनवा कर देते हैं, ताकि उसका कोई ठिकाना हो और वह दुःखी न हो। इस प्रकार बच्चे के जन्म के समय से लेकर उस पर कितनी मेहनत करनी पड़ती है! परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि इस मेहनत का हजारवाँ वा लाखवाँ हिस्सा भी मनुष्य अपने जीवन को सच्ची शान्ति एवं सुख से सरसाने के लिये नहीं लगाता, जिससे कि भविष्य में भी वह जन्म-जन्मान्तर के लिए स्वर्गिक सुख प्राप्त कर ले। इस पुरुषार्थ के लिए तो वह कहता है कि मेरे पास समय नहीं है अथवा कि इस कार्य में मेहनत करनी पड़ती है, परन्तु वह यह नहीं सोचता कि मेहनत तो हर-एक कार्य के लिए करनी पड़ती है और मेहनत के बाद ही तो मीठा फल प्राप्त होता है और यह मेहनत तो अतुल फल देने वाली तथा अति सहज है, इससे तो मनुष्य सदा के लिए मालामाल हो जाता है।

पुरुषार्थ करते-करते तो मनुष्य ने रॉकिट बना लिये हैं अथवा ऐटॉमिक शक्ति खोज डाली है। यह कहना कि परमात्मा को याद करना कठिन है। यह तो पुरुषार्थ हीनता तथा अज्ञानता की निशानी है। मनुष्य के जितने लौकिक सम्बन्धी आज हैं, उनसे यदि एक और ज्यादा होता तो क्या वह उसे याद न कर सकता? किसी माँ का यदि एक बच्चा और बढ़ जाता है तो क्या वह उसके लिए समय नहीं निकालती? अतः समय न मिलने या याद न कर सकने का बहाना झूठा है। जो लोग कहते रहते हैं कि—"मन चंचल है, वह टिकता नहीं है।" उन्हें सोचना चाहिए कि जब तक यह ज्ञान न हो कि मन को टिकाना कहाँ है, वह टिकेगा कैसे? इस-लिए, हम कहते हैं कि बच्चों पर तो इतना ध्यान देते हो, उन पर धन भी खर्च करते हो परन्तु कुछ तो अपना भी भविष्य सुधार लो, ज्ञान प्राप्त करके मन को सच्ची शान्ति का उपाय भी कर लो।

सुख तथा शान्ति की खोज

श्री विश्वबन्धुजी सत्यार्थी

सुख तथा शान्ति दोनों पृथक्-पृथक् होते हुए भी तत्त्व दृष्टिसे एक ही हैं। विषय-सुख आभास मात्र होने पर भी सच्चा-सा प्रतीत होता है। विषय-सुख में ऐसा आकर्षण है कि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी वह लुभा लेता है। बड़े-बड़े आत्मज्ञानी कहे जाने वाले पुरुष भी बार-बार विषय-सुख का परित्याग करके भी पुनः उसीकी इच्छा कर बैठते हैं। विचार दृष्टि से देखा जाय तो जितने विषय-पदार्थ हैं, सभी सुख-दुःख से रहित हैं। यदि विषय-पदार्थों में सुख अथवा दुःख होता तो सभी के अनुभव में समता होनी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नहीं है। एक ही पदार्थ किसी व्यक्ति का जीवन है तो दूसरे का मरण। अफीम अफीमची के लिए जीवन हो सकता है, परन्तु जो अफीम नहीं खाता उसके लिए विष ही है।

सिगरेट, तम्बाकू ऐसी वस्तुयें हैं कि बहुतेरे बड़े प्रेम से पीते हैं और इसके सुख के पीछे भोजन तक के आनन्द-सुखको भूल जाते हैं, परन्तु जो व्यक्ति इनका सेवन नहीं करता वह इनके धुएँ भी घबराता है। इससे सिद्ध होता है कि सुख अथवा दुःख पदार्थों में नहीं है, कोई दूसरी ही वस्तु है।

मन की वृत्तियों के शान्त होने पर सुख का अनुभव और उनके चंचल होने पर दुःख का अनुभव होता है। वृत्तियों की चंचलता इच्छाओं से पैदा होती है। जब मन में किसी वस्तुका संकल्प स्फुरित हुआ, तब चित्त उसके लिए व्याकुल हो उठा। जब वह पदार्थ सम्मुख आया तब वृत्तियाँ शान्त-सी प्रतीत होने लगीं और सुख का अनुभव होने लगा। जब उस वस्तु का वियोग अथवा अप्राप्ति हुई, तब दुःख और भी बढ़ गया, चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठा।

अब प्रश्न यह होता है कि वृत्तियोंके शान्त होने से सुख कहाँ से आ गया? सुख अपने ही अन्दर था। वह सुख वृत्तियों की चञ्चलता से ढक गया था। वृत्तियों के शांत होनेसे उसकी प्रतीत हो उठती है। अज्ञानी नासमझी से अपने अन्दर न समझ कर दूसरे में सुख समझता है, इसलिए उसे बार-बार अनित्य पदार्थों के पीछे दौड़ लगानी पड़ती है।

यो वै भूमा तत्सुखम्।

—छान्दोग्य उपनिषद्

निश्चल आत्मा ही सुख और शान्ति का निकेतन है।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

—कठोपनिषद्

मूर्ख लोग बाह्य इच्छाओं के पीछे दौड़ लगाते हैं और मृत्यु के लम्बे-चौड़े आवगमन के पाश में बँध जाते हैं तथा जो धीर विचार-शील पुरुष हैं वे निश्चल अमृतत्व (आत्मतत्त्व) जानकर नाशवान् बाह्य पदार्थों के पीछे दौड़ नहीं लगाते।

जीवन तत्व साधन के लाभ

❀ डा० श्रीमती राजकुमारी सिन्हा

'सिद्धयोग' के सुधी पाठकवृन्द श्रीसद्गुरुदेवजी द्वारा सिखाई हुई जीवनतत्त्वसाधन की विधि तथा उनके लाभों से अवश्य ही परिचित होंगे। श्री गुरुदेव महाराज जी स्वयं ही अपने मुखारविन्द से इन नौ क्रियाओं का अनेक बार लाभ वर्णन करते हैं। जीवन तत्त्व साधन नामक पुस्तक भी सवाई आश्रम में प्रकाशित की गई है जिसमें प्रत्येक क्रिया का शरीर के किस अङ्ग पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह विषय विस्तार पूर्वक चित्रों की सहायता से समझाया गया है। मुझे भी इन जीवन तत्त्वसाधन नामक आसनों के केवल वही लाभ ज्ञात थे जो सुने या पढ़े थे। अभ्यास करने पर जीवन तत्त्वसाधन के कुछ और लाभ भी अनुभव में आये हैं। इस निबन्ध में केवल ऐसे ही कुछ लाभों का वर्णन किया जा रहा है। इन क्रियाओं की विधि पाठकों को विदित है ही, अतः उसका वर्णन नहीं किया जा रहा है।

१. सर्वोत्तान—सर्वप्रथम सर्वोत्तान नामक क्रिया की जाती है। इस क्रिया द्वारा शरीर को तान लेने से पैरों की अंगुलियों के पोरों से लेकर सिर तक सभी नसों पर खिंचाव पड़ता है। फिर शरीर ढीला करने से इन सभी नसों में रक्त प्रवाह दुगने वेग से जारी होता है। जैसे कूड़ा जोर से पानी डालने पर बह जाता है, उसी तरह बढ़े हुए रक्त संचार से नसों में जमी अशुद्धि धक्का पाकर रक्त के साथ बहकर हृदय तथा फेफड़ों में जाकर शुद्ध हो जाती है। इस तरह नस शुद्ध हो जाती है। तथा ऐसी नसों से जिन-जिन अंगों को खून जाता है, वहाँ अधिक मात्रा में खून जाने लगता है तथा रोगी अङ्ग स्वस्थ होने लगता है। इस प्रकार सर्वोत्तान आसन का स्नायुसंस्थान पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

२. स्कन्ध चालन—इस क्रिया में कन्धे हिलाये जाते हैं। अभ्यासकाल में पूरे धड़ की कसरत होती है। फेफड़े, जिगर, तिल्ली व

यत्र नान्यत्पश्यन्ति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।

जब धीर, विवेकी आत्मज्ञानी पुरुष आत्मा के सिवा दूसरे पदार्थों को सुख की अभिलाषा से न तो देखते हैं, न सुनते हैं, न जानने का प्रयत्न करते हैं तभी वे अमृततत्व को प्राप्त होते हैं—जन्म-मरण के पाश से मुक्त हो जाते हैं और जो मन्द-बुद्धि पाकर जीव विषय-पदार्थों को सुख की अभिलाषा से देखता है, सुनता है, पहचानता है, वह जन्म-मरण के पाश में बंध जाता है।

गले के रोगों में इस क्रिया से अद्भुत लाभ होता है। रीढ़ की हड्डी के रोगों में प्रायः डाक्टर कह देते हैं हड्डी बढ़ गई है तथा यह लाइलाज है। परन्तु इस क्रिया द्वारा अद्भुत लाभ होता है। रीढ़ की हड्डी में विशेष रूप से सिर की ओर से नीचे कमर की ओर की १०-१२ हड्डियों व उनसे जुड़ी नसों में—हरकत होती है। फलस्वरूप नसें शुद्ध व लचीली होती है। गरदन का दर्द, सरवाइकल का दर्द, स्पान्डिलाइटिस जैसे रोगों में लाभ होता है। कन्धे व बाजू के जोड़ों में भी हड्डी बढ़ने से दर्द हो जाता है। स्कन्ध चालन से इन रोगों में भी आराम आता है। प्रायः सरवाइल के कारण हाथ में दर्द होता है। इस क्रिया से इसमें भी आराम आता है।

३-४. पगचालन—इस क्रिया द्वारा पेट के निचले हिस्से में तथा कूल्हे, घुटने व टखने के जोड़ों में हरकत होती है। अतः इन अंगों के रोग दूर होते हैं। प्रायः सर्दियों में घुटने के जोड़ों में बड़ी आयु वाले स्त्री-पुरुषों को दर्द की शिकायत हो जाती है। ऐसी दशा में पगचालन से बहुत लाभ होता है। कमर के निचले हिस्से वाली रीढ़ की हड्डियों की कसरत होती है, जिससे 'लम्बर' नामक (निचली रीढ की) हड्डियों के दर्द में अपूर्व लाभ होता है। इसके अतिरिक्त पेटके निचले हिस्सों (मूत्राशय, गर्भाशय, नले इत्यादि) के रोगों में भी इस क्रिया से लाभ होता होगा, क्योंकि पगचालन से इन अंगों में भी हरकत होती है।

५. नाभिचालन—नाभिचालन से सर्वाधिक लाभ होता है। नाभि की स्थिति का पूरे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। यहीं पर जठराग्नि की स्थिति होती है, जो भोजन को पचाती है, यहीं समान वायु का स्थान है। अतः सर्व प्रथम तो इस क्रिया द्वारा पाचन-क्रिया ठीक होती है। दूसरी बात यह है कि जोर-जोर से करवटें लेने से शरीर की छोटी से छोटी नसों में तथा एक-एक Cell में रक्त संचार होता है। इसके परिणामस्वरूप किसी भी अंगमें रोग होगा तो इस क्रियाके अभ्यास से अवश्य ठीक होगा। देखने में आया है कि नाभि-चालन करने से हाथ-पैरों का दर्द, मासिक स्राव सम्बन्धी रोग, गर्भाशय की सूजन में भी विलक्षण प्रभाव रहता है। इस क्रिया में रीढ की पूरी ३३ हड्डियों की जोरदार कसरत होती है। सिर को स्थिर रखना होता है। इस तरह गर्दन की ऊपरी प्रथम रीढ की हड्डी से लेकर कमर में अन्तिम रीढ की हड्डी तक किसी भी हड्डी में विकार हो निश्चित ही इस क्रिया से आराम आता देखा गया है। नाभि-चालन करते-करते ही शरीर में रक्त-संचार की सरसराहट अनुभव की जा सकती है।

एक बात और भी है कि रीढ की हड्डियों से अनेक नसें जुड़ी है तथा अलग-अलग अंगों में खून पहुंचाती है, यह तथ्य आज की मेडीकल साइन्स बताती है। जब रीढ़ की किसी हड्डी में विकार आता है, वह बढ़ जाती है या अपनी प्राकृतिक अवस्था से बदल जाती

है तथा वह सही ढंग से सही मात्रा में रक्त को अपने सम्बन्धित अंग तक नहीं ले जा पाती। फिर खून की कमी से वह अंग रोगी हो जाता है। नाभिचालन करने से पहले तो विकारग्रस्त हड्डी में सुधार होता है, फिर खुद व खुद ही उस हड्डी से जुड़ी नस पर प्रभाव पड़ता है तथा उसमें रक्त-प्रवाह ठीक तरह चलने लगता है। फिर सही मात्रा में खून मिलने से रोगी का अंग ठीक हो जाता है। सभी नसें रीढ़ की हड्डी से जुड़ी हुई है, अतः नाभि-चालन से सभी अङ्गों के एक-एक Cell पर बहुत स्वास्थ्य-प्रद प्रभाव पड़ता है। शरीरके कण-कणमें रक्त-संचार होता है।

६. जानुप्रसार (घुटने फैलाना)—इस क्रिया से कुल्हे व घुटने के जोड़ पर, मूत्राशय गुर्दे तथा रीढ़ की निचली हड्डियों में हरकत होती है। इन अङ्गों की अशुद्धि दूर होती है, रक्त-संचार सही मात्रा में होता है तथा इन अङ्गों में आराम आता है।

७. बालमचलन तथा बच्चे का ध्यान—बाल-मचलन की क्रिया भी नाभि-चालन के समान बड़ी अद्भुत क्रिया है। इसका विलक्षण प्रभाव होता है। इसको करते समय शरीर का एक-एक जोड़ वेगपूर्वक क्रिया करता है। शरीर की सभी नसों-नाड़ियों में खून का वेगपूर्वक संचार होता है। शवासन में बच्चे का ध्यान करते समय रक्त-संचार की सरसराहट महसूस होती है।

८. नाड़ी संचालन—यदि कोई कहे कि यह क्रिया मुख्य रूप से रीढ़ की हड्डी की कसरत है तो अत्युक्ति न होगी। जैसे मथानी डालकर दही का कण-कण मथा जाता है, उसी तरह नाड़ी संचालन द्वारा शरीर की एक-एक नस नाड़ी की कसरत व शुद्धि इस क्रिया से होती है। फलस्वरूप रीढ़ की सभी हड्डियों के रोग ठीक होते हैं तथा हाथों का दर्द, पैरों का दर्द, कन्धों का दर्द तथा गर्भाशय सम्बन्धी रोगों में लाभ होता है।

९. उत्क्षेपण—इस क्रिया द्वारा भी हाथ पैरों में रक्त-संचार तेजी से होता है।

जीवन तत्त्व-साधन की क्रियाओं से इस लेख में बताये गये लाभों के अतिरिक्त भी अन्य बहुत से रोगोंमें लाभ अवश्य होते होंगे। ऐसे लाभों का हमें तब पता लगेगा जब डाक्टरोंसे निराश होकर कोई रोगी श्रीगुरुदेव की आज्ञा से इन क्रियाओं को करके रोगमुक्त होगा। प्रायः रीढ़ की हड्डी में विकार होने पर एक्सरे देखकर डाक्टर कह देते हैं कि हड्डी बढ़ गई है, बिस्तर पर आराम करें। वे कुछ खास व्यायाम भी करने को कहते हैं, परन्तु ज्यादातर गलत ढङ्ग से बैठने, लेटने, खड़े होने वगैरह से जब रीढ़ की हड्डी सीधी स्थिति में नहीं रहती तो उसमें विकार आने लगता है। जिस हड्डी से जुड़ी नस जिगर को खून पहुंचाती है, यदि वह हड्डी विकारग्रस्त हो जाय तो जिगर को खून पहुंचाने वाली नस ठीक से काम नहीं करेगी। जिगर में ठीक मात्रा में खून न पहुंचने के कारण जिगर के रोग हो जायेंगे। रीढ़ की हड्डी का दर्द अलग परेशान करेगा, यही बात अन्य रीढ़ की हड्डियों के सम्बन्ध में भी है।

जीवन तत्त्व साधन की इन क्रियाओं को करने से रीढ़ की हड्डियों की भली-भाँति कसरत होती है। शरीर के प्रत्येक अङ्ग में रक्त संचार धीरे-धीरे (अभ्यास के साथ-साथ) बढ़ता है। मानव शरीर रीढ़ की हड्डी के लचीले व शुद्ध होने पर ही स्वस्थ रहता है। अन्यथा शरीर में ह्रास (छीजन) आ जाता है। जीवन तत्त्व साधन करने से रीढ़ की हड्डी लचीली होती है, व शरीर में छीजन कम होती है। जीवनी शक्ति बढ़ती है इसीलिए इन आसनों का 'जीवनतत्त्व' नाम सार्थक है। इन क्रियाओं को करने से रोगों से लड़ने की शक्ति भी बढ़ती है। केवल एक महीना इन क्रियाओं को करने का ही इतना प्रभाव पड़ा कि वाइरल बुखार की महामारी में जब दिल्ली में आम आदमी १०-१५ दिन तक चारपाई पर पड़ा रहा था, तो जीवन तत्त्व साधन के साधक केवल २-३ दिन के बुखार के बाद ही भले चंगे होकर फिर आसन कक्षा में आये। हमारी एक सखी की माता बिल्कुल अपाहिज जैसी हो गई थी। टट्टी, पेशाब को भी मुहताज थीं। परन्तु १५ दिन के जीवन तत्त्व साधन से ही आश्चर्यजनक सुधार हुआ। वे आराम से उठने लगीं। करीब डेढ़ दो महीने के निरन्तर अभ्यास से वह सड़क पर सुबह शाम घूमने भी जाने लगीं। पिछले दिनों संदेश मिला कि अब वे काफी हदतक ठीक हो गई हैं।

आश्चर्यजनक रूप से लाभ देने वाली ये जीवन तत्त्व साधन नामक क्रियायें वास्तव में मानव शरीर के लिए कल्पवृक्ष हैं। ये अमृत हैं। इनसे शरीर में स्थित अनेक जाने अनजाने उजागर तथा छिपे रोग ठीक होते हैं। ये क्रियायें आज मानसिक व शारीरिक रोगों से घिरी मानवजाति को, हमारे दादागुरु परमपूज्य अखण्ड ज्योति महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की अद्भुत देन हैं। जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक श्री सद्गुरुदेवजी भी कहते हैं कि जो भी नर-नारी इन आसनों को नित्य करेगा, उसे कोई रोग नहीं सतायेगा। इसमें कोई संशय नहीं है। माताओं व बहिनों से मेरा विशेष आग्रह है कि यदि वे स्वस्थ रहना चाहती हैं तो आलस्य त्यागकर जीवन तत्त्व का अभ्यास करें। यदि एक घंटा नहीं कर सकतीं तो आधा घण्टा या १५ मिनट या जितना भी कर सकें, अवश्य करें। स्वास्थ्य में अवश्य लाभ होगा। प्रायः स्त्री जाति आसनों में संकोच करती है। ऐसी दशा में घरके पुरुषों को उन्हें प्रेरणा देनी चाहिए जिससे उनके परिवार की स्त्रियां दैनिक आसन घर पर करें। आसन सुबह या शाम को कभी भी खाली समय में खाली पेट किये जा सकते हैं। भोजन करने के ३ घण्टे बाद पेट खाली हो जाता है तथा अब आसन किये जा सकते हैं। आसनों के बहाने परिवार के दैनिक कार्य नहीं छोड़िये। लगन से आसन करने पर, यदि शरीर रोगी है तब तो आश्चर्यजनक रूप से लाभ महसूस होगा। चुस्ती, फुर्ती भी बढ़ेगी तथा डेढ़ घण्टे का काम एक घण्टे में ही करने की योग्यता आयेगी।

मृत्यु का नाशक योग

❀ श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय

कलिकाल के कराल रूप के सम्मुख प्राणी कब आ जाय, यह समझना कठिन है। मनुष्य अपने शुभ-अशुभ संस्कारों के कारण विभिन्न प्रकार के राग-द्वेष में पड़ता रहता है, वस्तुतः प्रकृति का रूप भी द्वन्द्वात्मक है। इसमें भी सर्दी-गर्मी क्रमशः आया करते हैं। मनुष्य का प्रदुर्भाव भी इसी प्रकृति में होने से वह इससे आवेष्ठित रहता है। आत्मा जब तक परमात्मा के सानिध्य में रहता है, तब तक शुद्ध-बुद्ध में रहता है। ज्योंही वह मातृ-कुक्षि से बाहर आ जाता है तब वह प्रकृति के गुणों से घिर जाता है। उसमें माया-मोह, राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं। यह साधारण पुरुषों की गति है, परन्तु इसी प्रकृति में योग-भ्रष्ट व्यक्ति भी मातृ-कुक्षि के द्वारा आता है, परन्तु उसके जन्म एवं कर्म साधारण पुरुष से अलग होते हैं। उसमें साधन के पूर्व संचित संस्कार बीजरूप में रहते हैं। ऐसा प्राणी ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म लेता है। गीता में उसके रूप का वर्णन करते हुए भगवान् ने कहा है कि—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं,
लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः,
संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव,
ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य,
शब्दब्रह्माति वर्तते॥

—गीता ६/४३-४४

ऐसे व्यक्ति भव-प्रत्यय योगी होते हैं। पतञ्जलि भगवान् के ये सूत्र—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

—योग-दर्शन १/१९

अर्थात् विदेह प्रकृतिलय योगियों का योग भव प्रत्यय कहलाता है।" भव प्रत्यय वाले व्यक्ति की निर्बीज समाधि उपाय जन्य नहीं होता है। अतः उसका नाम भव प्रत्यय है। यथार्थ में ऐसे लोगोंके लिए पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त होना ही कारण है, साधन समुदाय नहीं, क्योंकि ये लोग साधन करते हुए कहीं बीच से स्खलित होते हैं। ये जहाँ से स्खलित होते हैं, पुनः वहीं से साधन क्रिया आरम्भ होती है।

साधारण पुरुष गुरुदेव का शरण ग्रहण

परन्तु ध्यान रखें कि केवल पुस्तकों की सहायता से इन क्रियाओं का अभ्यास नहीं करना चाहिए। श्री सद्गुरुदेव भगवान् को अपना रोग बताकर उनके कहे मुताबिक जीवनतत्त्व साधन का अभ्यास करना चाहिए अच्छा तो यही है कि कुछ दिन आश्रम में ही श्री गुरुदेव के निरीक्षण में आसन किये जायें तथा बाद में घर आकर अभ्यास जारी रखा जाए। श्री गुरुदेव महाराज से प्रार्थना है कि वे इन जीवन तत्त्व साधन की क्रियाओं को करने की लगन व हिम्मत हम सबको प्रदान करें, जिससे हमारा कल्याण हो। ●

कर उपाय प्रत्यय द्वारा योग की परम स्थिति को प्राप्त कर सकता है। ऐसे साधकों के लिए भी भगवान पतञ्जलि ने सूत्रवत् बताया है—

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात्—दूसरे (उपाय प्रत्यय) साधकों का योग-श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक सिद्ध होता है। किसी भी साधन में प्रवृत्त होने का और अविचल भाव से उसमें लगे रहने का मूल कारण श्रद्धा (भक्ति-पूर्वक विश्वास) ही है। श्रद्धा की कमी के कारण ही साधक के साधन की उन्नति में विलम्ब होता है, अन्यथा कल्याण के साधन में विलम्ब का कोई कारण नहीं है। साधन के लिए किसी अप्राप्त योग्यता और परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए भगवान् पतञ्जलि ने श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया है। श्रद्धा के साथ साधक वीर्य अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर का सामर्थ्य भी परम आवश्यक है क्योंकि इसी से साधक का उत्साह बढ़ता है। श्रद्धा और वीर्य इन दोनों का संयोग मिलने पर साधक की स्मरण शक्ति बलवती हो जाती है तथा उसमें योग साधन के संस्कारों का ही बारम्बार प्राकट्य होता रहता है। अतः उसका मन विषयों से विरक्त होकर समाहित हो जाता है। इसी को समाधि की संज्ञा दी गई है। इससे अन्तःकरण स्वच्छ हो जाने पर साधक की बुद्धि 'ऋतम्भरा'—सत्य को धारण करने वाली हो जाती है। इस बुद्धि का ही नाम समाधि-प्रज्ञा है।

परमशान्ति को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को श्रद्धावान् होना आवश्यक है। गीता में योग-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णजी महाराज के ये वाक्य हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां
शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

—गीता ४/३९

अर्थात् श्रद्धावान् पुरुष जितेन्द्रिय एवं साधन-परायण होकर ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ज्ञान को प्राप्त कर वह भगवत्प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हम कलिकाल के प्राणी विभिन्न विभीषिकाओं को झेलते हुए जीवनयापन कर रहे हैं। प्रभु की कृपा से मृत्यु का नाशक योग प्राप्त हो गया है। परम कल्याणकारक श्रीसद्गुरुदेव भगवान् अपने संस्कारी बच्चों को स्वयं आकर्षित कर कल्याण का भागी बनाना चाहते हैं, परन्तु हम सब क्षीण वीर्य वाले सदैव कतराते ही रहते हैं। ऐसे काल में जब योग को प्राप्त हुए हैं, यदि मृत्यु का नाश न हो सके तो कम से कम मृत्यु का ज्ञान कर लेना ही उसको समझ होगा। श्रीसद्गुरुदेव भगवान् कहते भी हैं कि इतनी साधना करलो कि कम से कम मृत्यु का ज्ञान तो हो जाय।

योग-साधना में प्राण-तत्व की प्रधानता है। प्राण को वश में कर लेने पर योगी इसी

स्थूल शरीर से दसों-दिशाओं में स्वच्छन्द विचरण करता है। जब तक योगी का सूक्ष्म शरीर रहता है, तब तक वह योग-बल से ही सूक्ष्म शरीर के द्वारा लोक-लोकान्तरों में विचरण करता है। हमारे परम कल्याण-धन अहैतुकी कृपालु सद्गुरुदेव भगवान् अपने साधकोंके कल्याण के लिए साधकोंकी प्रार्थना पर उन्हें यथा समय जगाने तक का कार्य ऐसे ही तो करते हैं। अपने प्यारे बच्चों के लिए पिता जिस प्रकार हर कष्ट को सहता है, जिससे वह निरन्तर अच्छे मार्ग पर प्रगति करे। ऐसे ही हमारे भोले बाबा सद्गुरु भगवान् भी सदैव कष्ट करते रहते हैं। श्रीसद्गुरु भगवान् ने "योग-सिद्धान्त" में प्राणायाम एवं उसकी विधिको विस्तार से बताया है, उसका कुछ उपादेय अंश निम्नवत् है—

प्राणायाम करने वाले साधक को प्राणायाम करने से पूर्व योगासनों का पूरी तरह से अभ्यास करना आवश्यक है, क्योंकि योगासन जहाँ शरीर को आरोग्यता प्रदान करता है। वहीं प्राणायाम साधना में भी सहायक होता है। आसन ही एक ऐसा साधन है, जिसके अभ्यास से मनुष्य प्राणायाम का पूरा लाभ उठा सकता है। आसनों की सिद्धि न होने से प्राणायाम में अन्तराय भी आ सकता है। प्राणायाम का सामान्य लक्षण बतलाते हुए भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम् ।

—योग-दर्शन २/४९

अर्थात् उस आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना ही प्राणायाम का सामान्य लक्षण है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राणायाम के बारे में बताया है।

प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायाम परायणः

—गीता ४/२९

प्राणायाम के विभिन्न लक्षण हैं। जो साधक के साधना क्रम के अनुसार गुरुदेव आज्ञा एवं निर्देश से साधक उसका अभ्यास करता है। धीरे-धीरे साधना का अभ्यास बढ़ाते रहने पर वह विभिन्न प्रकार के समाधि-जन्य सुख को क्रमशः प्राप्त करता है। समाधिको प्राप्त कर साधक सुखपूर्वक उसकी विभिन्न कोटियों में क्रमशः बढ़ता रहता है। जिस प्रकार स्थूल शरीर से तृप्त हुआ मनुष्य सुखपूर्वक सोता है उसी प्रकार योगयुक्त पुरुष के चित्त में सदैव हर समय समाधि सुख से आप्लावित रहता है। वह समाधि से विरत नहीं होना चाहता है। गीता में योगी के लक्षण को बताते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने कहा है-

ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा,
कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी,
समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

—गीता ६/८

मृत्यु नाशक योग को प्राप्त कर साधक की स्थिति उसी प्रकार की हो जाती है, जिस प्रकार बादल की बरसाई हुई बूँदोंके आघात

योग एवं गुरुदेव

❀ श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

यद्यपि सभी प्रकार की विद्यायें गुरु के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती हैं। बिना गुरु के मनुष्य किसी भी विद्यामें पारंगत नहीं हो सकता। अक्षरारम्भ से लेकर गणित, विज्ञान, साहित्य, संगीत, शिल्प, सर्जरी तथा यान्त्रिकी आदि सभी लौकिक विद्यायें अनुभवी शिक्षक ही सिखाते हैं, किन्तु आध्यात्मक मार्ग तो है ही गुरुगम्य। अतः इस मार्ग में गुरु की विशेष आवश्यकता रहती है। बिना गुरु के इस मार्ग में चलना तो दूर रहा, मनुष्य एक कदम भी नहीं उठा सकता। हम बाहरी संसार के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं, किन्तु अपने बारे में हमें कोई भी स्पष्ट जानकारी नहीं होती कि हम क्या हैं और क्या बन सकते हैं। अपने दोषों का, मनोभूमि का, आत्मिक स्तर का एवं प्रगति का हमें स्वयं पता नहीं चल सकता। अन्तर्द्रष्टा अनुभवी गुरुदेव ही इस बात को जानते हैं कि साधक का आत्मिक स्तर क्या है। उसके अन्दर क्या गुण-दोष हैं तथा किस प्रकार से उसका कल्याण हो सकता है? इत्यादि बातों पर विचार कर तथा उसके पूर्व जन्म के संस्कारों को देखकर उनके लिए वही मार्ग प्रशस्त करते हैं, जिस पर वह आसानी से चलता हुआ परम कल्याण का भागी बन सके। यहाँ यह कहना अत्युक्ति न होगा कि योगी सद्गुरु त्रिकालदर्शी हुआ करते हैं। वे साधक के एक जन्म के बारे में ही नहीं, बल्कि उसके हजारों पूर्व के और आगे होने वाले जन्मों के बारे में अपनी योग-शक्ति से जान लिया करते हैं।

योग-मार्ग के पथिक के लिए अनुभवी गुरु का मार्ग-दर्शन नितान्त आवश्यक है। उसी के सहारे आध्यात्मिक यात्रा सुविधा-पूर्वक होती है अन्यथा बिना मार्ग-दर्शक के योग-मार्ग पर चलना तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान है। कठोपनिषद् का वचन है—

से पर्वत चञ्चल नहीं होता है। अनेकों प्रकार के विक्षेप योगी को विचलित नहीं कर सकते हैं। जो इस प्रकार पूर्ण समाधि में स्थिर हो जाता है। वह अविनाशी परब्रह्म में ही सदैव स्थिर रहता है। धीरे-धीरे इसमें अनेक सूक्ष्म शक्तियाँ स्वाभाविक आ जाया करती है। वह अचिन्त्य शक्ति वाला हो जाता है। वह चाहे तो हजारों शरीर एक साथ धारण करले और उनका संहार भी सरलता से कर लेता है। जिसने अपने को हठयोग की साधना से मार लिया है, वह योगी अमर हो जाता है। संसार के प्राणी की गतियों से वह एकदम न्यारा हो जाता है। इसलिए इच्छारूप हो करके तीनों लोकोंमें जहाँ-तहाँ विचरा करता है, ऐसे अनेक योगियों की कथा है। जो स्वेच्छा से इधर-उधर विचरा करते हैं, जैसे योगिराज तैलङ्ग स्वामी, लाहड़ी महाशय इत्यादि।

अस्तु 'सिद्धयोग' 'सिद्धगुरु' सिद्धयोग के पाठकों को सुलभ है। इस स्वर्ण अवसर को प्राप्त कर प्रभु-कृपा से मृत्यु का ज्ञान तो हो ही सकता है, यह कठिन कार्य नहीं है। हमारे बहुत से गुरु-भाइयों को भी मृत्यु का ज्ञान प्रभु की कृपा से होगा, लेकिन योग गोप्य विद्या है। यह आध्यात्मिक धरोहर चुपचुप ही रखने से विकसित होता रहता है। बहिर्मुखता से इसका क्षय होता चला जाता है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथ-
स्तत्कवयो वदन्ति ॥

अरे मनुष्यो ! तुम लोग जन्म-जन्मान्तर से अज्ञानरूपी निद्रा में सोये हुए हो । अब भी समय है—उठो, जागो और महापुरुषों की शरण में जाकर उनके उपदेश द्वारा अपने कल्याण का मार्ग और परमात्मा का रहस्य समझ लो । परमात्मा का रहस्य और उसका ज्ञान बड़ा गहन है । उसके स्वरूप का ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति का मार्ग तलवार की तेज धार पर चलने के समान है । ऐसे दुस्तर मार्ग से सुगमतापूर्वक पार होने का उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं जो इस मार्ग को स्वयं पार कर चुके हैं ।

उपनिषदों में गुरु-शिष्य परम्परा का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है और इस सिद्धान्त का निर्णय किया गया है कि श्रद्धालु, जिज्ञासु, साधन-परायण, संयमी एवं गुरु-भक्त साधक ही योग की अमरनिधि को पा सकता है । जैसे—

गुह्याद् गुह्यतरमेषां न,
प्राकृतायोपदेष्टव्या ।
सात्त्विकायान्तर्मुखाय,
परिशुश्रूषवे ॥

—महावाक्योपनिषद्

इस उपनिषद् (ब्रह्मविद्या) का साधारण पुरुषों को उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अत्यन्त गोपनीय है, किन्तु सात्त्विक वृत्ति वाले अन्तर्मुखी तथा अपने गुरुदेव की सेवा में निरत मनुष्य को ही इसका उपदेश करना चाहिए ।

श्रद्धालुर्मुक्ति मार्गेषु,
वेदान्त ज्ञानलिप्सया ।
ईपायनकरो भूत्वा गुरुं,
ब्रह्मविदं व्रजेत् ॥
सेवाभिः परितोष्यैदं,
चिरकालं समाहितः ।
सदा वेदान्त वाक्यार्थं,
शृणूयात्सुसमाहितः ॥

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

मुक्ति-मार्ग में श्रद्धा रखने वाले साधक को चाहिए कि वह वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ हाथमें कुछ भेंट लेकर किसी सद्गुरु की शरण में जाये और चिरकाल तक सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करे तथा एकाग्र चित्त होकर उनसे वेदान्त वाक्यों को सुनें और समझें ।

सत्कर्म विपाकतो बहूनां जन्मना-
मन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते ।
तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकाल,
सेवया बन्धमोक्षं कश्चिद्प्रच्छति ॥

—पंडसोपनिषद्

जब सत्कर्मों के परिपाक से अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य की मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा होती है, तब वह किसी सद्गुरु की शरण में जाकर चिरकाल तक उनकी सेवा करके बंधन से छुटकारा पाकर मोक्षको प्राप्त होता है ।

तद्विज्ञानार्थं स: गुरुमेवाभिगच्छेत्स्‌-मित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

—मुण्डकोपनिषद्

जिज्ञासु साधक को चाहिए कि वह परमेश्वर का वास्तविक तत्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय के साथ ऐसे सद्‌गुरु की शरण में जावे जो वेदों के रहस्य को भलीभांति जानते हों और परब्रह्म परमात्मा में स्थित हों ।

साधकों को अपने स्वरूप को समझने की इच्छा से, जीवन्मुक्ति की इच्छा से सन्तों की सेवा करनी चाहिए। स्त्री, पुत्र, घर, धन सब उन्हें अर्पण कर देना चाहिए, गुरु से बढ़ कर और कुछ नहीं है। जिसके द्वारा यह सारा संसार प्रकाशित होता है, जाना जाता है। उन श्रीगुरुदेव से बढ़कर दूसरा और कौन हो सकता है ? इस तथ्य को भलीभांति जान कर जीव निश्चित ही मुक्त हो जाते हैं।

जहाँ गुरु है, वहाँ शिव है। गुरु और शिव स्वरूप ही वह महेश्वर है। भ्रमरकीट सिद्धांत द्वारा यह प्रसिद्ध है कि भृंगी नामक कीड़ा अन्य कीड़ों को पकड़कर जब अपने घर में बन्द कर देता है तो वे कीड़े भय के कारण निरन्तर उस भृंगी का ध्यान करते रहने से भृंगी जैसे ही बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार शिवस्वरूप गुरुदेव का निरन्तर ध्यान करने से साधक मुक्त हो जाता है। शिवलिङ्ग का अभिषेक करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार गुरु के अभिषेक से तथा चरणामृत पीने से अनन्त जन्मों के पाप धुल जाया करते हैं। गुरु में प्रेम रखना ही शिव से प्रेम करना है। गुरु के समीप रहना ही परम पवित्र वास है। अतः शिव की शरण लेनी चाहिए, गुरु की शरण लेनी चाहिए।

गुरु जो भी आज्ञा दें उसका पालन शिष्य को बिना सोचे-विचारे अत्यन्त सन्तोषपूर्वक करना चाहिए। इस विद्याको गुरु से ही प्राप्त करे तथा गुरुदेव की सदा सेवा-सुश्रूषा करता रहे। वेदों में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् हरि हैं। यह विद्या उसी को देनी चाहिए जो गुरु का सच्चा भक्त हो, नित्य भक्तिपरायण रहे, अन्यथा किसी को नहीं देनी चाहिए। यदि कोई देता है तो देने वाला नरक-गामी बनता है और लेने वाले को भी किसी प्रकार की सिद्धि नहीं मिलती ।

जो विद्या प्राप्त करके भी मन, वाणी और कर्म से अपने गुरुजनों का आदर नहीं करते। कल्याण चाहने वाले व्यक्ति उनके अन्न को ग्रहण नहीं करते हैं। न गुरु और न यती ही उस कृतघ्नी के अन्न को खाते हैं।

गुरु ही परम धर्म है, गुरु ही परम गति है। एकाक्षर के ज्ञानदाता गुरु का जो सम्मान नहीं करता, उसकी विद्या, उसकी तपस्या और उसका ज्ञान धीरे-धीरे ऐसे क्षीण होकर समाप्त हो जाता है जैसे कच्चे घड़े में जल समाप्त हो जाया करता है।

गुरुदेव का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा सद्‌गुरु के बाह्य लक्षण क्या हैं ? इस सम्बन्ध में अद्वयतारकोपनिषद् कहा गया है—

आचार्यो वेदसम्पन्नो,
विष्णुभक्तो विमत्सरः ।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च,
सदा योगात्मको शुचिः ॥
गुरुभक्ति समायुक्तः,
पुरुषज्ञो विशेषतः ।
एव लक्षण सम्पन्नो,
गुरुरित्यभिधीयते ॥

—तारकोपनिषद्

वेद-सम्पन्न आचार्य, ईश्वरभक्त, मत्सरता-रहित, योग का ज्ञाता, योग में निष्ठा वाला, योगात्मा, पवित्र रहने वाला, गुरु-भक्त तथा परमात्मा में विशेष रूप से लीन रहने वाला इन लक्षणोंसे युक्त महापुरुष गुरु कहलाता है।

'गु' शब्दस्त्वन्धकारः स्यात्
'रु' शब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकार निरोधित्वात्
गुरुरित्यभिधीयते ॥
गुरुरेव पराकाष्ठा
गुरुरेव परा गतिः ।
यस्मादुपदेष्टासौ
तस्माद्गुरुतरो इति ॥

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति । सर्व जन्मकृतपापं तत्क्षणादेव नश्यति । सर्वान् कामानवाप्नोति । सर्व पुरुषार्थ सिद्धिर्भवति । य एवं वेद इत्युपनिषद् ।

—अद्वयतारकोपनिषद्

'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है रोकने वाला । अन्धकार का विरोधी होने के कारण गुरु कहलाता है ।

गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परम गति है, गुरु ही पराविद्या है, गुरु ही परायण योग्य है, गुरु ही पराकाष्ठा है और गुरु ही परम धन है। वह गुरु उपदेश करने वाला होने के कारण श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। गुरु शब्द का उच्चारण करने मात्र से मनुष्य का संसार-सागर से छुटकारा हो जाता है। सब जन्मों के पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं, सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। जो इस प्रकार जानता है वही उपनिषद् का ज्ञाता है।

गुरु-कृपा ही साधक के कल्याण का एकमात्र साधन है। यह स्पष्ट करते हुए महोपनिषद में कहा गया है—

दुर्लभो विषय त्यागो,
दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था,
सद्गुरोः करुणां विना ॥

सद्गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग करना सम्भव नहीं है, तत्व-ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है और सहजावस्था को प्राप्त करना भी अत्यन्त दुर्लभ है।

शिव संहिता में योगीश्वर भगवान सदाशिव ने योग सिद्धि का रहस्य प्रकट करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि गुरु-निष्ठ साधक ही योग मार्ग में प्रगति कर सकता है तथा गुरु सन्तोष ही सकल सिद्धियों का मूल है। जैसे:—

भवेद्वीर्यवती विद्या
गुरु वक्त्र समुद्भवा।
अन्यथा फलहीना स्यान्नि-
र्वीर्याप्यिति दुःखदा ॥
गुरुं सन्तोष्य यत्नेन
ये वै विद्यामुपासते।
अवलम्बेन विद्याया:
तस्याः फलमवाप्नुयुः ॥
गुरुः पिता गुरुर्माता
गुरुर्देवो न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा
तस्मात्सर्वै प्रसेव्यते ॥
गुरुः प्रसादतः सर्वं
लभ्यते शुभमात्मनः।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यं
नान्यथा शुभमाप्यते ॥
न भवेत्संगयुक्तानां
तथाविश्वासिनामपि।
गुरु पूजा विहीनानां
तथा च बहुसंगिनाम् ॥
मिथ्यावादरतानां च
तथा निष्ठुर भाषिणाम्।
गुरु सन्तोष हीनानां
न सिद्धिः स्यात्कदाचन ॥

अर्थात्—गुरुदेव के मुखारविन्द से प्राप्त की हुई विद्या ही फलवती हुआ करती है। अन्यथा गुरूपदेश के बिना किया गया योग-साधना सम्बन्धी पुरुषार्थ निष्फल चला जाता है, उसके साधक के अन्दर शक्ति का अभ्युत्थान नहीं होता और उसकी वह साधना अत्यन्त दुःखदायी होती है। जो साधक भक्ति-पूर्वक गुरुदेव की सेवा तथा उनके आज्ञा-पालन से उन्हें सन्तुष्ट करके योग विद्या का अभ्यास करते हैं वे उसका फल प्राप्त कर लेते हैं, गुरु ही पिता है, गुरु ही माता है और गुरु ही देवता है। इसलिए कर्म से, मन से और वाणी से गुरुदेव की सेवा करनी चाहिये उनकी सेवा से सबकी ही सेवा हो जाती है। गुरु कृपा से साधक का हर प्रकार से आत्म-कल्याण हो जाता है। अन्यथा कल्याण प्राप्ति नहीं होती। संसार में आसक्त रहने वाले, ईश्वर तथा शास्त्रों में विश्वास न करने वाले, गुरु पूजा न करने वाले, विविध मत-मतान्तर तथा सांसारिकता में संलिप्त जन समुदाय में रुचि रखने वाले, व्यर्थ के वाद-विवाद में पड़े रहने वाले, कठोर वाणी बोलने वाले और गुरुदेव को सन्तुष्ट न करने वाले लोगों को कभी योगसिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार योग मार्ग में गुरुदेव ही साध्य हैं और वे ही साधन हैं। गुरुदेव के शक्ति-पात से ही कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है और वह षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार तक पहुंचती है। उन्हीं के कृपापूर्ण शक्तिपात से हृदयग्रन्थि खुलती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं, पाप और पुण्य के फल-दाता सभी प्रकार के कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं। साधक का अन्तर्जगत में पूर्णरूपेण प्रवेश हो जाता है। वह समाधिजन्य परम सुख का उपभोग करता हुआ गुरु-कृपा से अन्त में मोक्ष का भागी बन जाता है।

शैव योग-दर्शन

❀ श्री डा० विजयसिंह

योगियों के शिरमौर योगेश्वर भगवान् सदाशिव की कृपा कटाक्ष से सृष्टि संरचना और विकट भृकुटि होने से प्रलय होता है। माया पाशबद्ध जीव को मुक्त अवस्था प्रदान करने के लिए उनकी अजस्र करुणा की धारा सद्गुरु रूपमें प्रत्येक काल में प्रवाहमान रहा करती है। शिव में अनन्त तथा स्वतन्त्र चित्, आनन्द, ज्ञान, क्रिया, इच्छा सन्निहित है वे ही चिदानन्द है। जीव भी तत्त्वतः शिव ही है। भेद है मात्र उसके सीमित चित्, आनन्द, ज्ञान, क्रिया, इच्छा की परतन्त्रता का। कश्मीर शैव-दर्शन जिनके प्रणेता स्वयं आदि परमात्मा सदाशिव हैं तथा जिसको ग्रहण कर अनेक सिद्धाचार्य तुर्यपद प्राप्त होकर शिव से अभिन्न हो गये है। उनके कृपा स्वरूप व अनुभव रूप में जो विशेषता रही है वह हम सभी 'सिद्धयोग' साधकों के लिए पठनीय और अनुकरणीय है।

स्पन्द तत्व

शिव व शक्ति में कोई भेद नहीं है। शिव को शक्ति को अभिन्न कहना उचित होगा। अग्नि से दाहकता को जैसे अलग नहीं समझा जाता है, वैसे ही शक्ति को शिव से विलग की कल्पना करना अज्ञानता की बात कही जायेगी। स्पन्द शास्त्र प्रणेता सिद्धाचार्यों ने शिव-शक्ति सामरस्य ही कहा। सदाशिव तत्व से लेकर पृथ्वी तत्व तक, सारे जड़-चेतनात्मक विश्व का आधार स्वीकार किया है। इसमें शिव परम ज्योति-स्वरूप है और शक्ति उनका विमर्श भाव है। यह विमर्श प्रकाश की स्पन्दना है। अतः परम ज्योति-रूप अखण्ड-मण्डलाकार शिव की, निजी अभिन्न, अहं विमर्शरूपा शक्ति ही स्पन्द है और स्पन्दना शिव के चिद्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा, क्रिया का स्वातन्त्र्य तथा अनन्तत्व है। शिव ही परम चेतन, परमानन्द है। जिनमें सर्व ज्ञातृत्व, सर्वेच्छा एवं सर्वक्रिया कर्तृत्व वर्तमान है, यही स्पन्दन रूप शिव-शक्ति कन्चुर से ब्रह्माण्ड तक व्याप्त है तथा कीट-भृङ्ग से ब्रह्मा तक व्याप्त है। इस परम स्पन्दना से अछूता कुछ भी नहीं है। यही आत्मतत्व है, यही यथार्थ स्वभाव है सबका।

स्पन्द शास्त्र में जीव एवं ईश्वर

योग-दर्शनकार भगवान् पतञ्जलि ने—

इस प्रकार योग प्रेमी साधक के अन्दर पात्रता होनी चाहिये। अधिकारी शिष्य पर ही गुरुदेव अनुग्रह पूर्वक शक्तिपात किया करते है, जिससे उसका हर प्रकार से कल्याण होता जाता है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि गुरुदेव पूर्ण शक्तिमान तथा कर्तुंम-कर्तुंम अन्यथा कर्तुंम की सामर्थ्य वाले हों। क्योंकि—शिष्य को जहाँ अर्जुन जैसा उत्तम योगाधिकारी बनना आवश्यक है वहाँ गुरु को भी श्रीकृष्ण जैसा योगेश्वर होना चाहिये। अधिकारी शिष्य को इस प्रकार के योगैश्वर्य सम्पन्न गुरुदेव मिल ही जाया करते हैं और उनकी कृपा से उसका उद्धार हो जाता है।

"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः।" अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से जो कभी सम्बन्धित नहीं रहा है तथा समस्त पुरुषों में (चित् प्रधान) उत्तम है वही है तथा "तत्र निरति-शयं सर्वज्ञ बीजम्" तथा ईश्वर में ज्ञान की पराकाष्ठा है। शैव-दर्शन में नाम रूपात्मक सृष्टि, भाव सृष्टि तथा अव्यक्त सृष्टि सबमें जो चैतन्य सत्ता वर्तमान है उसे ही शिव कहा गया है। शिव स्वतन्त्र ज्ञाता और स्वतन्त्र कर्त्ता भी है। यह अभिनव स्वतन्त्रता उनकी शक्ति है। चिति-शक्ति, विमर्श, सार, हृदय, संवित स्पन्दन नामों से शिव-शक्ति ही का बोध किया गया है। यह स्पन्दन-शक्ति विकास और संकोचयुक्त है। विकास क्रिया प्रधान है तथा संकोच प्रकाश प्रधान है। इसके द्वारा ही शिव के अन्तर में अवस्थित विश्व कल्पना का विस्तार "इदं" रूप में होता है। वहीं इसके संकोच से अन्तर्मुखता द्वारा सृष्टि शिवत्व को प्राप्त होती है। यह स्पन्द शिव शक्ति प्रत्येक क्रिया के करने में स्वतन्त्र है। इसी द्विमुखी गति वाली स्पन्दन शक्ति से ईश्वर किसी जीव को अपने कृपा का भाजन बनाकर अपने स्वरूप में अवस्थित करा देते है,वहीं तत्काल किसी को तिरोधान का विषय बनाकर जगत भाव में प्रतिष्ठित कर देते हैं। परमेश्वर की यह स्वातन्त्र्य-शक्ति विश्वरूप में प्रस्तुत होने के समय सर्व प्रथम इच्छा का रूप ग्रहण करती है। यही इच्छा शक्ति आगे ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति में परिवर्धित होती है। पाँच तत्व से रचित काया को धारण करने वाला प्राणी पशु रूप ही है। क्योंकि जीव चाहे देव योनि, मानव योनि अथवा पशु कीट पतंग योनियों में हो उसमें तथा ईश्वर में भेद चिद्, आनन्द, ज्ञान क्रिया एवं इच्छाशक्ति के संकोच तथा अनन्त स्वात-न्त्र्य का ही है। ऊपर बताया गया है कि ईश्वर निरतिशय ज्ञान वाले एवं क्लेश, कर्म विपाकाशय से सदा सर्वदा अस्पृश्य रहते आ रहे हैं। परन्तु जीव काल कर्म बाधित है तथा उसमें योनि एवं प्रारब्ध के अनुकूल ही चेतना, आनन्द, ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया एकत्रित रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। अपितु जीव और जड़ का भी भेद 'ज्ञान क्रियात्मक चैतन्य' के ही कारण है। जड़, जीव और अनन्त प्रकृति सब परम शिव के ही रूप है। वही शिव सभी रूपों में अपने को भासित किये हुए है—

यत्र स्थितमिदं सर्वकार्यं यस्माच्च निर्गतम्।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्॥

अर्थात्—परम शिव स्पन्दात्मक विमर्श-भूमिका में यह सारा प्रमेयरूप जगत् जो अभेद रूप में उनमें ही अवस्थित है, उसे स्वयं ही बहिर्मुखी प्रसार का रूप देते है। अतः उसके स्वतन्त्र प्रसार में कहीं कोई रुकावट नहीं है। अतः सभी मुमुक्षुको अनुग्रहमूर्ति सदाशिव स्वरूप सद्गुरु को हर समय प्रणाम करते रहना चाहिए, क्योंकि उनकी अनुकम्पा से ही पशु रूप जीव का पाश कटता है तब वह पशुपति रूपमें प्रतिष्ठित होता है। प्रभुशिव के उन्मेष-निमेष से सारा जगत् उद्भूत एवं प्रलय को प्राप्त होता है, जो कि उनके शक्ति-चक्र के वैभव का खेल है—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥

अतः ब्रह्मा से तिनके तक शिव की शक्ति का ही विमर्श समझना चाहिए। यही परम-तत्व जीव में आत्मा रूपसे प्रतिष्ठित है, जिसे जानने का प्रयास करना चाहिये। सभी योग-साधकों का परम लक्ष्य यही बताया गया है-

अत करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत् स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्ति स्थिति संहृती ॥
लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥

अर्थात्-जिस आत्म बल (स्पन्दात्मक बल) के स्पर्शमात्र से मन, बुद्धि, चित्त (जड़) चैतन्य हो उठते हैं। अचेतन इन्द्रियवर्ग भी चेतन-सा व्यवहार करते हुए सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने में सक्षम हो जाते हैं। उस स्पन्दात्मक स्वभाव का अनुसंधान परम श्रद्धा और अथक प्रयत्न द्वारा करना चाहिए, क्योंकि यही सर्वत्र विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है। यह स्पन्दन शक्ति जहाँ विश्व का वमन करती है एवं जीव में भाव का संचार कर "इदं" रूप में अवभासित करती है, वही यही शक्ति सद्-गुरु के अनुग्रह शक्तिपात रूपमें जीव के अन्दर संसारी भावोंका प्रलय करती है। अतः जीव में शिव भाव का विकास संभव हो पाता है।

माया क्या है ? ईश्वर की वह स्पन्दना जिसके प्रभाव से अपूर्णता की अनुभूति जाग्रत होती है स्वरूप का विस्मरण होता है। जग-दात्मा श्री कृष्ण भगवान ने श्री गीता जी में स्वयं कहा है-"मम माया दुरत्यया" अभेद में भेद की सर्जना करने वाली मेरी शक्ति ही माया है-यथा—

माया नाम च देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृत ॥

परमेश्वर की अभिन्न स्वातन्त्र शक्ति ही आव-रण बनकर पूर्ण रूप को अपूर्ण बनाती तथा अभेद में भेद की उत्पत्ति करती है। साधक ध्यान, धारणा व समाधि के अभ्यासद्वारा इस माया तत्व को अपने से अलग करता है।
"मीयते हेयतया परिच्छिद्यते योगिभिः" अर्थात योगी इसे हेय समझकर अपने से अलग कर देते हैं। माया से विलग हुये बिना परम पद प्राप्त नहीं होता है। अतः—

निज शुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥

अर्थात-स्वभाव से उत्पन्न अशुद्धि के द्वारा ओतप्रोत रहने के कारण और वासनात्मक इच्छाओं के फंदे में फंसे होने से ही जीव को आत्म बल का विस्मरण रहता है। परन्तु साधनासे जब वह क्षोभ शांत हो जाता है तब जीव शिव हो जाता है। तब वह शक्तिघन उसमें प्रति समय चित, आनन्द इच्छा ज्ञान, क्रिया के रूप में स्पन्दायमान होने लगता है, जिससे जीव जाग्रत, सुषुप्ति, स्वप्न सबसे मुक्त होकर तुर्यावस्था को प्राप्त हो जाता है। जहाँ अपने ही आत्म-प्रकाश को सर्वत्र प्रका-शित होता देखता हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है—

योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा ।
स स्वच्छन्दपदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत ॥

जीव का वर्गीकरण—भगवान् पतंजलि ने मूढावस्था, क्षिप्तावस्था, विक्षिप्तावस्था, एकाग्रावस्था, निरोधावस्था के प्राणियों का

जिक्र अपने योग-दर्शन में किया है। तम की प्रधानता व रज, सत् गौड़ हो तो जीव तमस प्रभावसे मूढ़ कहा गया है। रज की प्रधानता व सत, तम, गौड़ होने पर क्षिप्त भावी जीव कर्म फलासक्ति में डूबा रहता है। सत् प्रधान व रज-तम-गौड़ भावी जीव शास्त्र, तीर्थ, धर्म-कर्म में लिप्त रहकर लोक-परलोक की भावना में खोये रहा करते हैं, परन्तु इन्हीं में से कोई-कोई सिद्धानुकम्पा से मनस एकाग्रता तथा निरोधावस्था रूपी सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हो जाया करते हैं। शैव-दर्शन में भी अबुद्ध एवं बुद्ध तथा प्रबुद्ध एवं सुप्रबुद्ध कोटि में जीव को बाँटा गया है।

अबुद्ध प्रमातृ वर्ग—ये जीव पारमेश्वरी तिरोधानात्मिका शक्ति द्वारा संहार की अवस्था में ढकेले गये हैं। ऐसे जीवकी आत्मा पर माया आवरण इतना दुर्भेद्य पड़ा रहता है कि इनको अपने सद्भाव की चेतना का पता ही नहीं रहा करता है। देखें मूढ़ावस्था।

बुद्ध-प्रमातृ वर्ग—ऐसे जीव संसारी कहे गये हैं, यही पशुभाव भावित हैं। विषय पिपासा को विषयोपभोग से शान्त करना ही इनका कर्त्तव्य रहा करता है। कामिनी-कांचन ही को सर्वोत्कृष्ट एवं आदेय फल समझते हुए कभी भी आत्म-चिंतन की ओर अग्रसर नहीं होते। देखें क्षिप्त भावी जीव।

प्रबुद्ध प्रमातृ वर्ग—सदाशिव स्वरूप सद्गुरु के परम करुणा से उनके शक्तिपात द्वारा किसी समय किसी प्रमाता में अकस्मात् ऐसी योग्यता उभर आती है जिससे उसके अन्तःकरण में दिव्य शांकर-भक्ति स्वयं जग उठती है। उसके सम-ज्ञान पर छाया-माया आवरण हटने लगता है। सद्गुरु कृपा से वह आत्मानुसंधान में लग जाता है। ऐसा जीव प्रबुद्ध जीव है जिसे सद्गुरु अनुग्रह प्राप्त है तथा जो आत्मानुसंधान में सजग रूप से लग गया है।

सुप्रबुद्ध प्रमातृ वर्ग—प्रबुद्ध प्रमाता जब अपने साधन, प्रयत्न, निष्ठा एवं पवित्र भक्ति द्वारा परम शिवरूप सद्गुरु को प्रसन्न कर उनसे शांभवी-दीक्षा प्राप्त करके योग-मार्ग पर अभ्यासरत रहकर शांभवी मुद्रा में अवस्थित हो तुर्यपद पर पहुँच जाता है तो उसे सुप्रबुद्ध जीव कहा गया है। सुप्रबुद्ध जीव योगी बन जाता है। वह शिव में अभिन्न हुआ प्रत्येक अवस्था में आनन्द को प्राप्त होता रहता है।

अतः सिद्ध शिवः स्वरूप सद्गुरु के अनुग्रह स्पन्दना को प्राप्त हुये जीव को अनथक प्रयत्न कर पुनः पुनः सद्गुरु की प्रसन्नता रूपी स्पन्दना को प्राप्त करते रहना चाहिये तथा सद्गुरु की करुणा से ही जीव शिव रूप को प्राप्त होता है। अतः

गुरुरेव जगत्सर्वं ब्रह्मा विष्णु शिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मात्संपूजयेद् गुरुम्॥

इसलिये परमगुरु भगवान शिव ने माता पार्वती को "गुरुगीता" में उपदेश देते हुये कहते हैं कि सद्गुरु पूजा ही सार्वभौम पूजा है स्वामी मुक्तानन्द जी का कथन है—वे गुरुशिष्य में अनुग्रहरूप से आप ही प्रवेश करते हैं। अपनी पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति का शिष्य में प्रवेश कराते हैं। शक्ति का प्रवेश कराना ही शक्तिपात दीक्षा है। शिव शक्ति का शिष्य में समावेश ही सद्गुरु का परम अनुग्रह है।

श्री सिद्धगुफा का योग-महामेला

सदा की भाँति गत चैत्र शुक्ला सप्तमी, अष्टमी व नवमी वि० सम्वत् २०४४ को श्री सिद्धगुफा सवाई आश्रम के सुरम्य प्रांगण में श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी महाराज की अध्यक्षतामें बहु-चर्चित योग-महामेला सहस्राधिक गुरु-भाई-बहनोंकी उपस्थिति में समयबद्ध कार्यक्रम के अनुसार अतीव उल्लास और आनन्दमय वातावरण में सम्पन्न हुआ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह त्रि-दिवसीय समारोह जिसे योग-महामेला की संज्ञा दी गई है, इस जनपद में अपने ढङ्ग का अनुपम होता है। प्रतिदिन के कार्यक्रम का शुभारम्भ महाप्रभुजी की सामूहिक आरती से होता रहा। पूज्यपाद श्रीगुरुदेवजी महाराज दीप प्रज्ज्वलित करके स्वयं इस आरती को अगुआई करते हैं। उनके द्वारा आरम्भ किये गये आरती गान का अनुकरण सामूहिक रूप से करने लगते हैं, वे सभी हजारों उपस्थित साधनाप्रिय भाई-बहन जो सुदूर और निकटस्थ प्रदेशों, ग्रामों एवं नगरों से यहाँ पूर्व से ही आकर आश्रम को अपने आवास से एक सुन्दर उपनगर-सा बना देते हैं। आरती-गान के पश्चात् गुरुदेव प्रसाद रूप में जो अभिमन्त्रित जल का—बिन्दु वर्षण करते है उसे ग्रहण करनेके लिए जैसी उत्सुकता साधकोंमें देखने को मिलती है वह बड़ी आह्लाद-कारिणी होती है। इस आरती कार्यक्रम के बाद गुरु-गीता के पाठ और उसकी सार्थक व्याख्या गुरुदेवजी स्वयं करते रहे।

इसके पश्चात दोपहर के भोजन और विश्राम के लिए समारोह की कार्यवाही स्थगित हो जाती थी। दोपहर बाद लगभग ३ बजे से महिला सत्संग और इसके बाद भजन-गायन एवं प्रवचनों का महत्वपूर्ण कार्यक्रम चलता था, जिसका समापन लगभग ६-३० बजे कर किया जाता रहा।

रात्रिकालीन सांस्कृति कार्यक्रम में भी गायन-वादन और प्रवचन के कार्यक्रम विशेष रूप से आयोजित किये जाते रहे। अन्तिम दिन नवमी को गुरु-पूजन और भण्डारे का विशाल आयोजन भी इस समारोह् का एक महत्वपूर्ण अंग रहता रहा है। इस बार भी इसकी विशालता और सात्विकता सराहनीय रही।

समारोह् के पूरे कार्यक्रम का संचालन श्री गुरुदेवजी के निर्देशन में संगीताचार्य श्री पं. भोजदत्त शर्मा ने किया था।

प्रवचनकर्त्ताओं में श्री हरिचरणजी चैतन्य, आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, श्री चन्दन-लाल जी पाराशर, रामावतार शर्मा, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री सुरेश शर्मा ने अपनी निजानुभूतियाँ सुनाकर सबको प्रभुजी की अहैतुकी कृपा का परिचय दिया।

संकीर्तन और गायनः वादन के कार्यक्रम में सुविख्यात संगीत रत्नाकर बहन उमा शर्मा, विमला बहन और प्रतिभा सम्पन्न बालिका श्रद्धा की प्रस्तुति की सभी ने सराहना की। शामली के श्री चतुरसेन बंशी वाले का बंशी वादन एवं गायन और श्री प्रकाश भइया ठेकेदार बिजली वाले सिकोहाबाद का गायन तथा श्री भुवनेन्द्र भूषण झा का तबला वादन प्रशंसनीय रहा॥

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 May. 1987

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सबाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book–Post

1021.

—❀❀❀—

श्री जसवंतसिंह वर्मा
जगतपुर ... बाग
आगरा-5

दुःखनाशक–योग

श्रीकृष्ण कहते हैं कि दुःख के साथ संयोग का वियोग होना अर्थात् दुःख के संयोग से अलग होना ही योग है। चित्तवृत्ति के कारण दुःख का संयोग होता है तथा चित्तवृत्ति शून्य होने पर दुःख के संयोग का अभाव हो जाता है। योग आत्मानुभूति की वह आनन्दावस्था है, जो दुःख के संयोग का अभाव कर देती है। योग दुःख का आत्यन्तिक उपाय है। विवेकशील पुरुष के लिए सांसारिक भोग दुःख रूप हैं। परमात्मा के साथ योग ही आनन्द-प्रद योग होता है। इसलिए मनुष्य को प्रमाद अधीरता छोड़कर उत्साह, श्रद्धा और धैर्यपूर्वक निश्चयात्मक बुद्धि का आश्रय लेकर सतत् योगाभ्यास करना चाहिए। इससे मनुष्य कृत-कृत्य हो जाता है।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३२५८